दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

वैदिकसिद्धान्तग्रन्थरत्नमाला—संख्या ३

॥ ओ३म् ॥

वास्तविक
वैदिकवर्णव्यवस्था
(पूर्वार्ध)

अर्थात्

पं० अखिलानन्द द्वारा प्रवर्तित कल्पित
"वैदिकवर्णव्यवस्था"
की
सुसमीक्षा

——ooooooo——

लेखक–श्री पण्डित भूमित्र शर्मा
आर्योपदेशक मेरठ

प्रकाशक—
रघुवीरशरण दुबलिस सम्पादक 'भास्कर'
मेरठ
मिलने का पता—
मैनेजर भास्कर प्रेस मेरठ

एक कापी मूल्य ।≈)] [वार्षिक मूल्य ३।-)

Printed & Published by
Raghubirsharan Dublis
At the Bhaskar Press
Meerut.

ओ३म्

भूमिका ।

प्रिय आर्यमहाशयो ! वर्त्तमानकाल वैदिकधर्म के प्रचार के लिये कैसा कठिन और दुस्तर हो रहा है कि विद्यानी साक्षर विवेकी पण्डित लोग भी सांसारिक भोग के प्रलोभनों में फंस कर सत्यसनातन वैदिकधर्म के विरोधी होकर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने लिये अनथक प्रयत्न करने में प्रवृत्त होजाते हैं।

श्रीमान् पण्डित अखिलानन्द जी को आर्यजनता अच्छी तरह से जानती है, उन्होंने आर्यसमाज में धर्म का प्रचार किया, शास्त्रार्थ किये, अनेक पुस्तकें वैदिकधर्म के महत्त्व में तथा महर्षि की प्रशंसा में निर्माण कीं।

आज उन्हीं पण्डित अखिलानन्द जी ने "वैदिकवर्ण-व्यवस्था" नामक एक अवैदिक पुस्तक लिखकर अपने मन्तव्य के विषय में आर्यजनता को भ्रम उत्पन्न कर दिया है। नहीं मालूम अब पण्डित जी किस मन्तव्य पर स्थित होंगे।

यद्यपि उन्होंने उक्त पुस्तक के अन्त में स्वमन्तव्य भी लिखा है, परन्तु पुस्तक के अन्दर का लेख उन के स्वमन्तव्य से बिलकुल विरुद्ध है। उन्होंने वर्णव्यवस्था को जन्म से सिद्ध करने का प्रयास किया है, वेदों में इतिहास माना है, वर्णों का परिवर्त्तन नहीं माना है, वर्ण शब्द को जाति का पर्यायी लिखा है, शूद्र यदि वेद पढ़े सुने तो जीभ काटने और कानों में शीशा भर देने का हुक्मनामा दर्ज किया है। कहां तक लिखें सारी पुस्तक वैदिकसिद्धान्त के विरोध से भरी हुई है।

मन्त्र तथा अन्य शास्त्रीय प्रमाणों के अर्थ भी सब आचार्यों के विरुद्ध लिखें हैं । अतः कई मित्रों के निवेदन करने पर मैंने इस पुस्तक का उत्तर अथवा समीक्षा लिखी है। पाठकगण इसको पढ़ कर अच्छी तरह पर वैदिकसिद्धान्त की सत्यता और पण्डित जी का पक्षपात जान सकेंगे ।

पण्डित जी ने ८७ पृष्ठ से युक्त "वैदिकवर्णव्यवस्था" नामक यह पुस्तक छपाई है, जिस में १ पृष्ठ से लेकर ३ तक प्रस्तावना लिखी है। इस में उन्होंने सत्य के प्रकाश करने की प्रतिज्ञा तथा स्वामी शङ्कराचार्य और स्वामी दयानन्द की भूल कल्पना की है । पृष्ठ ४ से ५ तक अवतरणिका लिखी है, जिस में गुण, कर्म, स्वभाव से वर्णव्यवस्था बतलाई है । ५ पृष्ठ से २२ तक उपोद्घात लिखा है जिस में पण्डित जी ने अवतरणिका के विरुद्ध जन्म से वर्ण मानने की कोशिश की है और वर्ण शब्द को जाति का पर्यायी लिखा है तथा दस्यु और आर्यों के लक्षण लिखे हैं, शूद्र से ब्राह्मणादि वर्ण बनाने का निषेध किया है इत्यादि। पृष्ठ २२ से ३० तक भूमिका लिखी है,जिसमें ब्राह्मण को जन्म से मुख्यता दी है और जाबालि आदि कोई भी शूद्र से ब्राह्मण नहीं हुए इत्यादि बातों का उल्लेख किया है। फिर पृष्ठ १ से ५५ तक वैदिकवर्णव्यवस्था लिखी है, जिस में गुण, कर्म और स्वभाव का निर्णय और विकाशवाद का खण्डन आदि का लेख करके ग्रन्थ को समाप्त किया है । अतः पूर्वोक्त सब प्रकरणों के प्रमाणों को उद्धृत करके आदि से अन्त तक भले प्रकार इस पुस्तक द्वारा उत्तर दिया गया है । भूल चूक को सज्जन लोग क्षमा करेंगे ॥ इत्याशास्महे ॥

आर्यों का सेवक—भूमित्र शर्मा अध्यापक आ० स० मेरठ

ओ३म्

वास्तविक

वैदिक-वर्ण-व्यवस्था।

अर्थात्

पं० अखिलानन्द द्वारा प्रवर्त्तित

कल्पित

" वैदिकवर्णव्यवस्था "

की

सुसमीक्षा ।

" वैदिकवर्णव्यवस्था " नामक स्वरचित पुस्तक के आरम्भ में प्रथमतः पं० अखिलानन्दजी ने साढ़े चार पृष्ठों में प्रस्तावना व अवतरणिका लिखी है। उस का सारभाग इस लिये हम यहां उद्धृत करते हैं कि सज्जनलोग उक्त पण्डित जी की प्रतिज्ञा व ग्रन्थ बनाने के प्रयोजन को समझ लेवें ।

पं० अखिलानन्द की प्रस्तावना ।

१–जिस विषय पर आज मैं पुस्तक लिखने को उद्यत हुआ हूं वह कितना दुरूह और दुर्विगाह है इस का अनुमान कतिपय सज्जन ही कर सकते हैं, सर्वसाधारण नहीं।

२–बहुत से तो इस विषय पर लेखनी उठाने से डरते हैं।

३–बहुत से अर्थ का अनर्थ करते हुए आत्महनन करते हैं।

४—बहुत से अपनी योग्यता की पड़ताल के भय से वाचंयम बने हुए हैं।

५—बहुत से मन में कुछ, वाणी में कुछ और व्यवहार में कुछ माने हुए हैं।

६—आज मैं प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तानुसार तथा उन के बनाये हुए ग्रन्थों के आधार पर इस ग्रन्थ का आरम्भ करता हूं।

७—ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वेदों के अतिरिक्त बाकी सब ग्रन्थों को परतःप्रमाण माना है।

८—मैं भी यदि वेदों के अतिरिक्त बाकी सब सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों को परतःप्रमाण मानूं तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु उन की आज्ञा का पालन है।

९—सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ अथर्व० ८। अ० २। सू० ४। म० १२॥

विचार के लिये उद्यत हुए पुरुष को सद्वाणी और असद्वाणी दोनों ओर से स्पर्धा के साथ घेरती हैं। उन दोनों में जो वाणी सत्य और कोमल होती है, सोम उस की रक्षा करता है और जो असत्य और कठोर होती है उस का नाश करता है।

१०—उदाहरणार्थ श्री स्वामी शंकराचार्य ने वेद में (द्वासुपर्णा०) मन्त्र के होते हुए और (सत्यपि भेदागमे) यह उनका निज मत होते हुए भी नास्तिकों को परास्त करने के लिये अद्वैतमत (असत पक्ष) का आश्रय लिया। यही दशा और आचार्यों की है।

११-ऋषि दयानन्द में सब से उत्तम यदि कोई बात है सो वह सत्यके ग्रहण और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना है ।

१२-ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में कहीं भी भूल न हुई हो यह सम्भव नहीं ।

१३-मैं मूर्खों के भय से ग्रन्थ लिखना नहीं छोड़ सकता हूं । ईश्वर मुझ को बल दे, ज्ञान दे, जिससे मनुष्यमात्र का उपकार करता हुआ अपने कर्तव्य का पालन करूं ।

॥ इति प्रस्तावना ॥

समीक्षक-यह प्रस्तावना उक्त पं० जी की हमने इस लिये उद्धृत की है कि सज्जन लोग उनके इस लेख के अनुसार उन की वर्णव्यवस्था के लेख को पूर्वोक्त नियमों के अनुसार मिलान करके प्रतिफल निकाल सकें ॥

अथ अवतरणिका ।

१-वर्णव्यवस्था गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार होनी चाहिये (स० प्र० ८५ पृ० ४ समु०)-ऋषि दयानन्द के ये वाक्य प्रत्येक विद्वान् को सुवर्णाक्षरों में छपा कर अपने २ मकानों में लगाने चाहियें । यही मेरा सिद्धान्त है ।

२-इस के विरुद्ध यदि अन्यत्र कहीं कुछ लिखा गया है वह प्रेस की भूल और लेखकों के प्रमाद से लिखागया है ।

३-स्वामी जी के ग्रन्थों में परस्पर विरोध नहीं है ।

४-विद्यादि सद्गुण और सत्यभाषणादि कर्म सुशीलतादि स्वभाव के न्यूनाधिक होने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज बड़े छोटे माने जाते हैं (स० प्र०१२ सं० ६० पृ० ४४२) ॥ इस लेखसे भी ऋषि दयानन्द स्पष्टरूपेण तीनों से वर्णव्यवस्था मानते हैं किसी एक या दो पर नहीं ॥

५—ऋषि ने स्वमन्तव्यामन्तव्य के १६वें नम्बर पर (वर्णाश्रम गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूं) ऐसा लिखा है। यहां योग्यता का अर्थ स्वभाव है जिसका विवेचन हम इसी ग्रन्थ के स्वभावप्रकरण में करेंगे॥

समीक्षक—पण्डित जी ने अवतरणिका के ४ नम्बर तक ठीक लेख किया, परन्तु ५ वें नम्बर में जो योग्यता का अर्थ स्वभाव बतलाया है यह नम्बर ४ से विरुद्ध है, क्योंकि स्वामी जी ने स्वभाव का अर्थ सुशीलतादि किया है और आप उस को पूर्व स्वीकार कर चुके हैं, फिर पांचवें नम्बर में आप के स्वभाव में क्यों परिवर्तन हो गया, जिससे कि योग्यता का अर्थ स्वभाव करने लगे? मालूम होता है कि आप के स्वभाव में योग्यता नहीं। स्वभावप्रकरण में भी आप की योग्यता देखी जावेगी॥

इति अवतरणिका समाप्ता

—०—

अथ उपोद्घातः।

१—वैदिकवर्णव्यवस्था पृष्ठ ५, पं० २१ आर्य और दस्यु यह दोनों शब्द जातिवाचक नहीं किन्तु गुणवाचक हैं।

समीक्षक—आपने पृष्ठ ५ पंक्ति २१ से लेकर पृष्ठ ७ पंक्ति १७ तक जो लेख आर्य और दस्यु शब्दों के विषय में लिखा है उस में कोई विशेष विवाद की वार्ता नहीं—सभी विद्वान् ऐसा ही मानते हैं, परन्तु दास शब्द को जो आपने केवल दस्यु का पर्यायवाची ही माना है यह आप की अवश्य भूल है। देखिये ऋ०म०५। ३४। ६ में दास का अर्थ सेवक है, मंडल ५। ३०। ८ में दास का अर्थ जल बर्साने वाले मेघ का है॥

२-पृष्ठ ७ प० ९ । १० में-वेद में वर्ण शब्द प्रायः रूप के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

समीक्षक-वर्ण शब्द केवल रूपही के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन पदवियों और स्वीकार अर्थ में भी प्रयोग होता है यथा (भवन्तं वृणे) (व्रतोस्मि) अक्षरों के लिये भी वर्ण शब्द बोला जाता है इस में विशेष वक्तव्य नहीं ॥

३-पृष्ठ ७ पं० १६ में-कहीं २ वर्ण शब्द जाति के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसेः—

उभौ वर्णौ ऋषिरुग्रः पुपोष

१ । १७९ । ६

योदासं वर्णमधरं गुहाकः

२ । २२ । ६

इन मन्त्रोंमें जातिके अर्थ में वर्णशब्द का उपयोग किया गया है वेदमें जाति और वर्णशब्द पर्यायवाची माने गये हैं।

समीक्षक-पंडितजी महाराज! आपने जो मन्त्र पृष्ठ २ पर लिखा है उस के अर्थ में आप लिखते हैं कि विचार के लिये उद्यत पुरुष को सत् और असत दोनों वाणी घेरती हैं उन में से सोम सद्वाणी की रक्षा करता है, परन्तु आपने तो निम्नलिखित मन्त्रों में सद्वाणी का अनादर किया है देखिये प्रथम मन्त्र का स्वामी जी कृत भाष्य-

अगस्त्यः खनिमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः । उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम ॥ १ । १७८ । ६ ॥

भावार्थः—

जैसे (खनित्रैः) खोदने वाला खोदने के साधनों से भूमि को (खनिमानः) खोदता हुआ कृषि बल धान्य अन्न को प्राप्त कर सुखी होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य और विद्या से (प्रजाम्) राज्य (अपत्यम्) सन्तान (बलम्) बल को (इच्छमानः) इच्छा करता हुआ (अगस्त्यः) अधर्म की ओर न जाने वालों में उत्तम (ऋषिः) वेदार्थवेत्ता (उग्रः) तेजस्वी विद्वान् (पुपोष) पुष्ट होता है और (देवेषु) विद्वानों में (सत्याः) अच्छे कर्म व सत्य और (आशिषः) सिद्ध इच्छाओं को (जगाम) प्राप्त होता है वैसे (उभौ) दोनों (वर्णौ) परस्पर एक दूसरे का स्वीकार करने वाले स्त्री पुरुष होवें॥

इस मन्त्र में वर्ण शब्द का अर्थ स्वीकार अर्थ में आया है परन्तु आपने लिखा है कि जाति के अर्थ में आया है, सो यह आप की सर्वथा अज्ञानता है।

क्योंकि—वेदवेत्ता तेजस्वी विद्वान् ब्रह्मचर्य और विद्या से युक्त होकर राज्य धन और प्रजा की इच्छा से स्त्री और पुरुष एक दूसरे को स्वीकार करें॥

पुनः भावार्थ में ऋषि लिखते हैं कि इस सूक्त में विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्री के गुणों का वर्णन है। फिर आप के माने हुए जात्यर्थ का तो इस में कहीं भी पता नहीं है॥

न इस का कोई प्रमाण है कि वेद में जाति और वर्ण शब्द पर्यायवाची हैं॥

दूसरा—

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। श्वघ्नीव यो जिगीवांल्लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २।१२।४॥

(येन) जिस राजा ने (इमा+विश्वा) इस विश्व को (च्यवना+कृतानि) नम्र बनाया है, सुशिक्षित किया है और जो (दासं+वर्ण) नीच वृत्ति वाले नास्तिक हैं उन को (यः) जिसने (अधरम्) नीचे दबा के (गुहा+अकः) गढ्ढ़े में स्थापित किया और (यः) जो (श्वघ्नी+इव) मृगों के मारने वाले व्याध के समान (लक्षम्) लक्ष्य को (जिगीषवान्) जीतता है और (अर्य) प्रजाओं का स्वामी वह राजेन्द्र (पुष्टानि) पुष्टकारी वस्तुओं को सदा (आदत) प्रजा के सुख के लिये ग्रहण करता है (जनासः) हे मनुष्यो (स इन्द्रः) वही हमारा राजा है ॥

कहिये इस मन्त्र में कौन से पद का यह अर्थ है कि वर्ण शब्द जाति का पर्यायी है, किन्तु असभ्यता रूप के अर्थ में वर्ण शब्द आया है, अतः आप सोम पदवी से गिर कर असद्र वाणी के वश में आगए ॥

४–पृ० ७ पं० २४–में लिखा है कि कोई २ विद्वान् वेद में जाति शब्द का प्रयोग नहीं बतलाते हैं परन्तु–(पृष्ठ ८ में)

एषां विष्णो सजात्यानाम् ऋ० ८ । ८३ । ७ ॥
सजात्येन मरुतः सबन्धवः ऋ० ८ । २० । २१ ॥
सजात्यमश्विनोश्चारु नाम ऋ० ३ । ५४ । १६ ॥
नः सजात्यस्य मरुतो विबोधथ ऋ० १०।६४।१३॥
इद्धो अपिष्मसि सजात्ये ऋ० ८ । १८ । १९ ॥
तवग्नावो मित्रमहः सजात्यम् ऋ० २ । १ । ५ ॥
अस्ति हि वः सजात्यं रिशादसः ऋ० ८।२७।१०॥

इन मन्त्रों में बार २ सजात्य शब्द का प्रयोग किया है और सजात्य शब्द बिना जाति शब्द के बनता नहीं,

क्योंकि (समानायां जातौ भवः सजात्यः) समान जाति में उत्पन्न हुए पुरुष को सजात्य कहते हैं और इसी से सजात्य सम्बन्ध संसार में नियत हुआ है।

समीक्षक–यदि पूर्वोक्त मन्त्रों में सजात्य शब्द आया है तो इस से आप की क्या इष्ट सिद्धि हुई? क्या इस से ब्राह्मणादि वर्ण का पर्यायी जाति शब्द सिद्ध होगया? आप ने वर्ण शब्द को जाति का पर्यायी सिद्ध करने में तो बड़े ज़ोर की प्रतिज्ञा की, परन्तु जब सिद्धि में प्रमाण लिखने बैठे तो घबड़ा गये। घबड़ाने का प्रमाण यह है कि आप ने मन्त्रों में से बीच२ के टुकड़े लिख डाले और न यह लिखा कि किस वेद के हैं, फिर कई मन्त्रों का पता भी ग़लत लिख दिया जो कि कहीं मिलते ही नहीं हैं, तथा अर्थ भी नहीं लिखा। यदि अर्थ लिखते तो सब क़लई खुल जाती। अच्छा अब देखिये! पूर्वोक्त मन्त्रों के अर्थ को जो कि नीचे लिखा है और फिर विचारिये कि आप जान बूझ कर ब्राह्मणत्व से बाहर चले गये हैं॥

१-अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतो अश्विना॥ ऋग्वेदे मं० ८ अ० ९ सू० ७२ मं० ७॥

(हे इन्द्र, विष्णो, मरुतः) हे (अश्विना) अश्विनौ हे इन्द्रादयो देवाः (सजात्यानां) समानायां जातौ भवाः तेषां (एषाम्) मध्ये (नः) अस्मान् (अधि, इत) यूयं स्तुत्यतया अधिगच्छत॥ ७॥

भाषा–हे इन्द्रादिक विद्वानों सजातियों के मध्य स्तुति योग्य होने से आप हमको प्राप्त हूजिये वा ज्ञान दीजिये। इस मन्त्रमें सजात्य शब्दसे वर्णोंका कोई सम्बन्धवर्णितनहीं।

२ गावश्चिद्घास मन्यवः सजात्येन मरुतः स बन्धवः । रिहते ककुभो मिथः ॥

ऋग्वेदे म० ८ अ० ३ सू० २० मं० २१

हे (समन्यवः) समानतेजस्काः समानक्रोधा वा हे (मरुतः) (गावश्चित) गावश्च युष्मान् मातृभूताः (सजात्येन) समानजातित्वेन (सबन्धवः) समानबन्धुकाः सत्यः (ककुभः) दिशः प्राच्यादि दिग्भागान् प्राप्य (मिथः) परस्परं (रिहते) लिहन्ति—घेतिपादपूरकः ॥

भाषा—हे समान तेज वाले मरुद्गण ! वा विद्वान् लोगो ! माता के समान और समानता से रक्षिका होती हुई सजातित्व के समान पूर्वादि दिशाओं से प्राप्त होकर गायें आप लोगों को परस्पर चाटती हैं अर्थात् प्रेम करती हैं । दूसरा अर्थ (गावः) का यदि किरणें हो तो वह भी संगत है। इस मन्त्रमें भी वर्णका पर्यायी जाति नहीं है, किन्तु समानतामें है

३ नासत्या मे पितरा बन्धुपृच्छा सजात्यमश्विनोश्चारु नाम । युवं हि स्थो रयिदौ नो रयीणां दात्रं रक्षेथे अकवैरदब्धाः ॥ ऋ० म० ३ सू० ५४ मं० १६ ॥

भावार्थ-हे सभा और सेना के स्वामी (युवम्) आप दोनों (हि) ही हम को (रयिदौ) लक्ष्मी देने वाले (रयीणां-दात्रौ-रक्षेथे) और धनदान की रक्षा करते हैं । (अकवैः) अकुत्सितकर्मों से (अदब्धाः) निर्दोष हैं और जिन का (अश्विनोः) सूर्य चन्द्र के तुल्य (चारु) सुन्दर (नाम) नाम है उन (बन्धुपृच्छा) बन्धुओं की कुशलतादि पूछने वाले (नासत्या) असत्य के त्यागी (मे) मेरे (पितरा) पालन करने वालों के सदृश (सजात्यम्) समान जाति वालों के सुन्दर नाम की रक्षा करो ॥ १६ ॥

भावार्थ–जो विद्वान् लोग माता पिता के समूह सब को विद्याधन देने वाले धर्माचरण करते हुए अपने सजातियों की रक्षा करते हैं वे सब के पूज्य होते हैं।

इस मंत्र में मनुष्यों के मनुष्य ही सजाति कहे गये हैं।

४ कुविदंग प्रति यथा चिदस्य नः सजात्यस्य मरुतो बुबोधथ। नाभा यत्र प्रथमं संनसामहे तत्र जामित्वमदितिर्दधातुनः ॥ १३ ॥

ऋ० मं० १० । सू० ६४

भावार्थ–हे (मरुतः) विद्वान् लोगो ! आप (नः) हम को (कुवित) बहुवार (प्रति बुबोधथ) प्रति बुध्यध्वं– वैसे समझावें (यथा) जैसे (सजात्यस्य) सजातियों के तथा (नाभा) पृथिवी के मध्य वा वेदी पर (प्रथमम्) प्रथम ही (संनसामहे) उत्तम हविष के सहित (यत्र) जहां सत्संग को प्राप्त हों (तत्रैव) उसी देश में (अदितिः) अखण्ड वेदोक्त बुद्धि (नः) हमारा (जामित्वं) मनुष्यों के साथ बान्धवत्व (दधातु) धारण करे ॥

इस मंत्र में भी मनुष्य मात्र को सजातीय कहा है न कि वर्णों को जाति शब्द से ॥

५ यज्ञो हीडो वो अन्तर आदित्या अस्ति मृडत । युष्मे इद्वो अपिष्मसि ॥ १९ ॥

ऋ मं० ८ । अ० ३ । सू० १९ । मं० १९ (आदित्यदेवता)

भावार्थ–हे (आदित्याः) (हीडः) हीडिर्गत्यर्थः गन्तव्यः प्राप्तव्यो अस्माभिः अनुष्ठितो (यज्ञः) (वः) युष्माकं (अन्तरः अस्ति) अन्तरोऽस्ति अन्तिके वर्तमानो भवति । अतोऽस्मान् (मृडत) सुखयत (वः) युष्माकं (सजात्ये) सजातत्वे ज्ञातित्वे बांधवे वर्तमाना वयं

(युष्मे-इत) युष्मास्वेव (अपिप्समसि) सर्वदा भवामोऽपि-इद्गन्तोमसि ॥ १९ ॥

भाषा—(आदित्याः) हे आदित्यो (होत्रः) प्राप्त होने योग्य हमारे द्वारा अनुष्ठान किया गया (यज्ञः) यज्ञ (वः) आप के (अन्तरः अस्ति) समीप वर्त्तमान होता है इस हेतु से हम को (मृडत) सुखी करो (वः) आप के बान्धवत्व में वर्त्तमान हम लोग (युष्मे-इत) आप ही में (अपिप्समसि) सर्वदा हों भी ।

उक्त मन्त्र में भी सजात्य का अर्थ वर्ण नहीं है, किन्तु यज्ञ की महिमा कहते हुए सजात्य का अर्थ सजातित्व ज्ञातित्व तथा बान्धव किया है तथा मनुस्मृति के निम्न-लिखित श्लोक से भी उक्त मन्त्र का अभिप्राय स्पष्ट ज्ञात होता है ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

शोक है कि जैसे पौराणिक लोग वेदों में मूर्त्तिपूजा ढूंढते फिरते हैं और जहां कहीं भी पाषाण शब्द वा प्रतिमा शब्द किसी मन्त्र में मिल जाता है तो उसी को लेकर मूर्त्तिपूजा साबित करने का साहस करने लग जाते हैं वैसेही आपभी जहां कहीं मन्त्र में सजाति शब्द मिलता है आप भी उस का अर्थ ब्राह्मणादि वर्ण का करने लगते हैं ।

६-त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्नावो मित्रमहः सजात्यम् । त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यं त्वं नरां शर्धो असि पुरूवसुः ॥ ५ ॥

ऋ० मण्डल २ । १ । ५

भावार्थः—हे (अग्ने) विद्वान् (त्वष्टा) अज्ञान का नाश करने वाले (त्वम्) आप (विधते) सेवा करते हुए मनुष्य के लिये (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम देते हैं। हे (मित्रमहः) मित्रों का सत्कार करने वाले (ग्नावः) प्रशंसित वाणी से युक्त (तव) आपका (सजात्यम्) समान जातियों में प्रसिद्ध प्रेम है (आशुहेमा) शीघ्रकारी जनों को वृद्धि देने वाले (त्वम्) आप (स्वश्व्यम्) सुन्दर अग्न्यादि पदार्थों में प्रसिद्ध हुए बल को (रिरिषे) देते हैं सो (त्वम्) आप (पुरूवसुः) बहुतों को निवास देने वाले (नरां) मनुष्यों के (शर्धः) बल के बढ़ाने वाले (असि) हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में भी सजात्य शब्द से मनुष्यजाति का ही ग्रहण है न कि वर्ण का पर्यायी।

७ अस्तिहि वः सजात्यं रिशादसोअस्त्याप्यम्।
प्रणः पूर्वस्मै सुविताय वोचत मक्षु सुम्नाय नव्यसे ॥ १० ॥

ऋ० मं० ८ अ० ४ मं० १० (विश्वेदेवा—देवता)

भावार्थ—हे (रिशादसः) रिशतां हिंसतामशितारो (देवासः) मरुदादयः (वः) युष्माकं (सजात्यं-अस्ति) परस्परं समानजातिभावोऽस्ति खलु किं च (आप्यं) आपिर्बंधुः तस्य भाव आप्यं स्तोतृषु स्तुतिलक्षणसम्बन्धात् वैवस्वतेन मनुना मया स्तोत्रा सह युष्माकं बन्धुभावोऽस्ति खलु ततः (पूर्वस्मै) प्रथमभाविने (सुविताय) सुष्ठु इयते सर्वैरागम्यत इति सुवितो अभ्युदयः तस्मै (नव्यसे) नवीयसे नव तराय (सुम्नाय च) उभयं (मक्षु) शीघ्रं (नः)

अस्माकं (प्रवोचत) प्रकर्षेण ब्रूत अभ्युदय धनानि प्रयच्छतेत्यर्थः ॥ १० ॥

भाषा—हे (रिशादसः) अविद्यान्धकार के नाशक विश्वेदेवा ! विद्वान् लोगो ! (वः) आपका (सजात्यं-अस्ति) परस्पर आपस में समान जातिभाव है किन्तु (आप्यं) हम स्तोताओं के साथ भी आपका बन्धुभाव है, अतः (पूर्वस्मै) प्रथमभावी (सुविताय) अभ्युदय को और (नव्यसे) नवीनतर ऐश्वर्य को (सुम्नाय) दोनों प्रकार के ऐश्वर्य को (मक्षु) शीघ्र ही (नः) हमको (प्रवोचत) (प्रकर्षेण ब्रूत-प्रयच्छत) दीजिये ॥

इस मन्त्र में भी वर्ण का पर्यायी जाति शब्द नहीं है।

आपने ७ मन्त्रों के खण्ड (जाति का पर्यायी वर्ण शब्द है) प्रमाण में दिये, परन्तु आप के हृदय में जो ईर्षा की अग्नि का धूम् उमड़ रहा था उसने बुद्धि को ढक दिया इस कारण से आपको उक्त मन्त्रों का सत्यार्थ नहीं सूझा। (५ पृ० ८ पं० १२) पंडित जी लिखते हैं कि इतना ही नहीं द्विज और द्विजन्मा शब्दों का भी वेद में प्रयोग मिलता है, जैसे:—

द्विजा अह प्रथमजा तस्य ऋ० १० । ६१ । १९
स्तुता मया वरदा वेदमाता० अ० १९ । ७१ । १
अयं स होता यो द्विजन्मा ऋ० ९ । ४ । ६
अभिद्विजन्मा त्रीरोचनानि ऋ० ९, ४, २
द्विजन्मानो ये ऋतसापः सत्याः ऋ० ६, ५०, २

इन मन्त्रों में वार २ द्विज और द्विजन्मा शब्द आया है और सृष्टि में पूर्व द्विज ही उत्पन्न हुए शूद्र नहीं यह भी (द्विजाः प्रथमजाः) इस मन्त्र से सिद्ध होता है। वेदवाणी

भी द्विजों ही के लिये वेद में बताई गई है शूद्रों के लिये नहीं—नहीं तो (वेदमाता द्विजानां पावमानी) वेद ऐसा क्यों कहता। यज्ञ करने का अधिकार भी (सोयं होता यो द्विजन्मा) इस मन्त्र से द्विजों ही के लिये है शूद्रों के लिये नहीं।

समीक्षक—यदि वेदों में द्विज शब्द आता है तो इस से आप की क्या इष्टसिद्धि हो सकती है ? क्या इसको भी जाति का पर्यायी सिद्ध करोगे ?

यदि आदिसृष्टि में सब द्विज ही उत्पन्न हुए तो आप के मन्तव्यानुसार द्विजों ही से शूद्र होने चाहियें अन्यथा कहां से आये ? इससे तो आप स्वयं ही निग्रहस्थान में गिर गये हैं। तथा यह जो कहा कि वेद द्विजों ही के लिये हैं—यह बात किसी मन्त्र से सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि ईश्वरीय पदार्थ मनुष्यमात्र के लिये हैं। जिस मन्त्र के एक खंड का आप प्रमाण देते हैं उसका वह अर्थ नहीं जो आप समझे हैं, देखिये:—

१ इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः। द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना॥ १०, ६१, १९॥

(इयम्) माध्यमिका वाक् (मे) मम (नाभिः) सन्नाहनी आदित्यस्य तस्याश्चाभेदादस्यसंमाध्यमिका वाक् बन्धिका भवति। तथा च ब्राह्मणं—सायावक् असौ स आदित्य इति (इह) अस्मिन् मण्डले (मे) मम (सध-स्थ) स्थानं (इमे+देवाः) द्योतमाना रश्मयः (मे) मम स्वभूताः (अयम्) अहम् (अस्मि) (सर्वः) सूर्यस्य स्व-स्य चोक्तेन प्रकारेणाभेदात तद्द्वारा सर्वात्मकत्वं (अह)

किंचेत्यर्थः (द्विजा) ब्रह्माण्डजा (ऋतस्य) सत्यभूतस्य ब्रह्मणः (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्ना (धेनुः) पृश्निदैवता माध्यमिका वाक् (जायमाना) (इदं) सर्वं (अदुहत) दुदोह उत्पादयतीत्यर्थः ।

भावार्थः—(इयम्) यह माध्यमिका वाक् (मे) मेरी (नाभिः) नाभि है (इह) इस मण्डल में (मम) मेरा (सधस्थं) स्थान है (इमे+देवाः) ये देदीप्यमान किरणें (मे) मेरी ही हैं (अयम् अहम् अस्मि) यह मैं हूं (सर्वः) यह सब कुछ मेरा ही है (अह) किंच (द्विजा) ब्रह्मांडजा)ब्रह्मांड से प्रकट हुई (ऋतस्य) सत्यभूत ब्रह्म की (प्रथमजा) प्रथमोत्पन्ना (धेनुः) वेदवाणी ने (सर्वं अदुहत) सब कुछ उत्पादन किया था दुहा ।

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥

पण्डित जी महाराज ! यहां आपका यह अभिप्राय किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता है कि प्रथम द्विज ही उत्पन्न हुए, किन्तु (बहुस्यांप्रजायेय) बहुतसी प्रजा उत्पन्न हुई (तथा पुरुषसूक्त से साध्या ऋषयश्च ये) अर्थात् मनुष्य और ऋषि उत्पन्न हुए दोनों में बहुवचन है, पुनः बृहदारण्यक में देखो (ततो मनुष्या अजायन्त) यहां पर भी बहुवचन है अर्थात् बहुत मनुष्य उत्पन्न हुए। यही नहीं किंतु (आरण्या ग्राम्याश्च ये) आरण्यक और ग्रामीण अनेक पशु और उपलक्षण से पक्षी आदि भी उत्पन्न हुए यदि पहिले द्विजों को उत्पन्न करता तो भी तो ईश्वर आपके विरुद्ध ही रहता क्योंकि आप तो पृष्ठ १३ में स्त्री शूद्र और वैश्यों को पापयोनि लिखते हैं और भागवत का प्रमाण

देकर सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों और शूद्रों तथा वैश्यों को वेदों का अधिकार ही नहीं है तो प्रथम द्विजों को उत्पन्न करते हुए आपके ख़याल के असूजिश ईश्वर ने पापी वैश्यों को क्यों उत्पन्न किया ? क्योंकि द्विज संज्ञा तो तीनों की है अतः कोई ऐसी चालाकी करो कि द्विज शब्द से भी ब्राह्मणों ही का ग्रहण हो सके। फिर तो आप दीन भारत का उद्धार ही कर देवेंगे। परन्तु फिर भी ईश्वर आपका विरोधी होगा क्योंकि उसने स्त्रियां भी आदिसृष्टि में पैदा कीं और उन द्विजों ने, जिन को आपने सबसे प्रथमोत्पन्न माना है, उन आप की पापयोनि मानी हुई स्त्रियों से जो सन्तान पैदा की वह सब पापी होनी चाहिये, क्योंकि (शूद्रां शयन-मारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्) पापी योनि वाली शूद्रा स्त्रियों से रमण करने वाले ब्राह्मण अधोगति को प्राप्त होते हैं अतः आप के मन्तव्यानुसार तो दुनिया में कोई द्विज है ही नहीं। पंडित जी! यह क्या हुआ ईश्वर तो आप का बड़ा विरोधी होगया सब बना बनाया कार्य बिगाड़ दिया॥

फिर जो आप लिखते हैं कि वेदवाणी भी द्विजों ही के लिये वेद में बताई गई है सो यह कहना भी आप का नासमझी वा पक्षपात से है देखिये—

२—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम् पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मचर्यं। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अथर्व० अनु० ७ सू० ८ का० १९॥

(मया) सावित्रीं जपता वेदाध्यापकेन वा (स्तुता) अभिष्टुता स्वरूपस्ता (वरदा) इष्टकामप्रदात्री (पावमानी) पावमानः पापात् परिशोधिका (वेदमाता) वेदस्य ऋगादिरूपस्य माता सर्ववेदसारत्वेन मातृवत् प्रधानभूता सावित्री, वेद एव वा माता मातृवत् हितकारित्वात् ॥

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ॥

(द्विजानाम्) द्विजन्मनाम् त्रैवर्णिकानाम् (आयुः प्राणं प्रजाम् पशुम् कीर्त्तिम् द्रविणम् ब्रह्मवर्चसम्) आयुरादिफलानि (प्रचोदयन्ताम्) पूजायां बहुवचनम्-प्रेरयतु प्रयच्छतु (ब्रह्मवर्चसम्) ब्रह्मणां वर्चः ब्राह्मतेजः [ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः] इति अच् समासान्तः (मह्यं) स्तोत्रे सर्वेषांफलप्रार्थकाय (दत्त्वा) आयुरादिकं फलं वितीर्य (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्मणो लोकः सत्यलोकः ब्रह्मैव वा लोकः लोक्यमानं विद्वद्भिरनुभूयमानं परं तत्त्वं (व्रजत) इति प्रत्यक्षवाद: अत्रापि पूर्ववद् बहुवचनम् ॥

(मया) मुझ वेद का स्वाध्याय वा गायत्री जप करने वाले से (स्तुता) स्तवन की गई वा स्वाध्याय की गई (वरदा) इष्टकामप्रदात्री (पावमानी) पापों से संशोधन करने वाली (वेदमाता) गायत्री वा मातृवत् हितकारी वेद (द्विजानाम्) द्विजन्माओं को आयु प्राण प्रजा पशु कीर्त्ति धनों को (प्रचोदयन्ताम्) देवे और (मह्यं) मुझ समस्त फलों की प्रार्थना करने वाले स्तोता के लिये (ब्रह्मवर्चसम्) ब्राह्मतेज (दत्त्वा) देकर और आयु आदिक फलों को वितीर्ण करके (ब्रह्मलोकम्) ब्रह्म का लोक अर्थात् सत्यलोक अथवा विद्वानों से अनुभूयमान जो परमतत्त्व ब्रह्म (व्रजत-व्रजतु) प्राप्त हो ॥

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विजोच्यते ॥

जन्म से सब शूद्र होते हैं, पुनः जब उपनयन संस्कार होकर गायत्री और वेद का अध्ययन करता है तब द्विज कहाता है। पश्चात् वेद वा गायत्री उस द्विज को पवित्र करते हैं तब ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। यही अभिप्राय उक्त श्रुति का है ॥

उक्त श्रुति से आप का अभिप्राय तो बिलकुल सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि मनुष्यमात्र में से जो २ द्विज होता जायगा उसी २ को वेदविद्या पवित्र कर मुक्ति का भागी बनाती जावेगी जब जन्म से कोई भी मनुष्य द्विज नहीं तो यह कैसे कह सकते हो कि द्विजों ही के लिये वेद है अतः [यथेमां वाचं कल्याणी०] मन्त्र में जो वेदपठन का मनुष्य मात्र को अधिकार ईश्वर न देता तो कोई भी मनुष्य द्विज नहीं बनता। जब द्विज नहीं बनता तो किसी की मुक्ति भी न होती ॥

अतः आपने जो अवतरणिका के नं० १ में इस विषय को दुरूह और दुर्विगाह लिखा है सो आप के लिये यह विषय ऐसा ही हो गया है कि जिस के प्रवाह में आप बहे जाते हैं। फिर जो आपने लिखा है कि यज्ञ करने का अधिकार भी द्विजों ही के लिये है, शूद्रों के लिये नहीं, क्योंकि [सोऽयं होता यो द्विजन्मा] का आप प्रमाण देते हैं ॥

पण्डित जी! आप ने अवतरणिका के नं० २ में लिखा है कि बहुत से तो अर्थ का अनर्थ करके अपने आत्मा का हनन करते हैं सो स्वामी जी का भाष्य [अयं स होता]

IS
V-SNA

इस मन्त्र पर होते हुए क्या आपने अपनी आत्मा का हनन नहीं किया है ?

फिर नं० ५ में आपने लिखा है कि बहुतसे ऐसे हैं कि मन में कुछ और वाणी में कुछ—यह दोष भी आप ही पर आधार है, क्योंकि आप वेद को स्वतःप्रमाण और पृष्ठ २ में आप स्वामी जी को सत्यवादी मान चुके हैं तो यह द्वितीय दोष भी आपने जान कर ओढ़ा है, जब कि ऋषि का अर्थ आप के मन में था तो उस के विरुद्ध आपने वाणी से और लेख द्वारा अन्वय के विरुद्ध अर्थ प्रकाशित किया। देखिये स्वामी जी का मन्त्रार्थ।

३-अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वादधे वार्य्याणि श्रवस्या। मर्त्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥

ऋग्वेद मं० १ अ० २१ सू० १४९ म० ५ ॥

(यः) जो (सुतुकः) सुन्दर विद्या से बढ़ा-उन्नति को प्राप्त हुआ (मर्त्तः) मनुष्य (अस्मै) इस विद्यार्थीके लिए विद्या को (ददाश) देता है वा (यः) जो (द्विजन्मा) गर्भ और विद्या शिक्षा से उत्तम हुआ (होता) उत्तम गुण-ग्राही (विश्वा) समस्त (श्रवस्या) सुनने में प्रसिद्ध हुए (वार्य्याणि) स्वीकार करने योग्य विषयों को (दधे) धारण करता है (सः) सो (अयम्) यह पुण्यवान् होता है।

भावार्थ—जिसका विद्या और उत्तम शिक्षा युक्त माता पिताओं से एक जन्म हो और दूसरा जन्म आचार्य और विद्या से हो वह द्विज होता हुआ विद्वान् हो। देखिये पण्डित जी आप का वह अभिप्राय कि यज्ञाधिकार द्विज को ही होता है। इस विषय का विधायक यह मंत्र नहीं।

४—अब चतुर्थ मन्त्र जो आपने जन्म से द्विजन्मा होने में दिया है उसका अर्थ भी देखिये।

अभिद्विजन्मा त्रीरोचनानि विश्वारजांसि शुशुचानो अस्थात्। होतायजिष्ठो अपां सधस्थे॥ ऋ० मं० १ सू० १४९ मं० ४॥

हे विद्वान् जैसे [द्विजन्मा] दो अर्थात् आकाश और वायु से प्रसिद्ध जिसका जन्म ऐसा (होता] आकर्षणशक्ति से पदार्थों को ग्रहण करने और [यजिष्ठः] अतिशय करके संगत होने वाला अग्नि [अपां] जलों के [सधस्थे] साथ के स्थान में [त्री] तीन [रोचनानि] अर्थात् सूर्य बिजुली और भूमि के प्रकाशों को और [विश्वा] समस्त [रजांसि] लोकों को [शुशुचानः] प्रकाशित करता हुआ [अभ्यस्थात्] सब ओर से स्थित होरहा है वैसे तुम होओ।

भावार्थ–जो विद्या और धर्मयुक्त व्यवहार में विद्वानों के संग से प्रकाशित हुए स्थान के निमित्त अनुष्ठान करते हैं वे समस्त अच्छे गुण कर्म और स्वभावों के ग्रहण करने को योग्य होते हैं।

उक्त मन्त्र में द्विजन्मा अग्नि का विशेषण है। यदि इस मन्त्र के भावार्थ पर भी आप विचारदृष्टि देते तो अवश्य आप असत्वाणी के वश में पड़ कर बदनाम न होते।

५–अब अपने दिये हुए ५वें मन्त्र का अर्थ देखिये। इसमें भी शूद्र का कोई प्रकरण नहीं है।

५–सुज्योतिषः सूर्यदक्ष पितृननागास्त्वे सुमहो वी हि देवान्। द्विजन्मानोय ऋत सापः सत्याः स्ववंन्तो यजता अग्निजिह्वाः॥ ऋ० ६, ५०, २

हे सूर्य के समान विद्वान् [ये] जो [अनागास्त्वे] अनपराधित्व में [द्विजन्मानः] उत्पत्ति और विद्या प्राप्ति

रूप जन्म वाले [ऋतसापः] सत्य से सम्बन्ध करने वाले [सत्याः] प्रतिज्ञा करते [स्वर्वन्तः] बहु सुख युक्त [यजताः] समस्त विद्याओं का संग करते [अग्निजिह्वाः] अग्नि के समान सत्यविद्या से सुन्दर प्रकाशित जिह्वाएं जिनकी [सुज्योतिषः] सुन्दर विनय के प्रकाश करने वाले विद्वान् हों उन [सुमह्वः] श्रेष्ठ महान् महाशय [दक्षपितॄन्] चतुर पिता और विद्या पढ़ाने वाले [देवान्] विद्वानों को आप निरन्तर [वीहि] प्राप्त होओ वा उनकी कामना करो ऐसा होने पर सर्वदा कल्याण प्राप्त होवे।

पण्डित जी यदि आप इस मन्त्र के एक पदार्थ पर भी ध्यान देते तो केवल जन्म मात्र से आप द्विज वा ब्राह्मणत्व की दुहाई न देते। वह यह कि [अनागास्त्वे] अनपराधित्व में जिन का जन्म हुआ हो और पुनः विद्या प्राप्त की हो वे ही द्विज हों—अब आप ख़याल कीजिये कि जो मद्य मांस सुल्फा चरस भांग के सेवन करने वाले, वाममार्गी वेदविरोधी, देवनिन्दक, असत्यवादी, दुराचारी, वेश्या रक्त, अशास्त्रीय विवाह भ्रूणहत्या आदि अनेक अपराधों से युक्त कलंकित कुलों में जिन का जन्म हो रहा है वे जन्म ही से आप की बुद्धि में किस प्रकार द्विज वा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य कहलाने के योग्य हैं।

इसी लिये भगवान् उपदेश करते हैं कि सम्पूर्ण पापों को परित्याग करके जो सन्तान उत्पन्न करोगे वह उत्तम जन्म वाली सन्तान होगी पुनः वही सन्तान जब वेदविद्या को पढ़ेगी तो द्विज होगी आपने मन्त्र के उत्तम अभिप्राय को छिपाकर क्यों आत्मा का हनन किया ? आपने तो दो पृष्ठ में वेदमन्त्रार्थ से यह प्रकाशित किया था कि रज और समस्त प्राणियों में से सोम अर्थात् सत्व गुणी बुद्धि

वाला विद्वान् सत्य वाणी की रक्षा करता है सो उसको आपने भुलाकर क्यों अपने आत्माको अन्तर्यामी के सन्मुख कलंकित किया ? शोक है आप की बुद्धि पर ।

(पृ० ८) त्रयः कुर्वंति भुवनेषु रेतः० ७ । ३३ । ७

इस मंत्र में [तिस्रः प्रजाः आर्याः] इस पद के आने से द्विज ही आर्य सिद्ध होते हैं शूद्र नहीं । इसी लिये सत्यार्थप्रकाश में द्विजों को आर्य और शूद्रों को अनार्य लिखा है जो आर्य ही नहीं उसको यज्ञ का अधिकार कहां से मिलेगा ।

समीक्षक—उक्त मंत्र में यदि तीन द्विजों ही को आर्य कहा है तो इस से आपकी क्या इष्टसिद्धि हो गई ? आप किस भ्रम के चक्र में पड़ गये हैं सिद्ध क्या करना चाहते हो और भटकें कहां फिरते हो देखो उक्त मंत्र के अर्थ में शूद्रों को यज्ञ करने का निषेध नहीं है ।

त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः । त्रयो घर्मास उषसं सचन्ते सर्वाँ इत्ताँ अनु विदुर्वसिष्ठाः ॥ ऋ० ७, ३३, ७

भाषा—हे मनुष्यो [भुवनेषु] पृथिवी अन्तरिक्ष द्यौ में [त्रयः] तीन अग्नि वायु सूर्य [रेतः] यथाक्रम से विश्व के धारण करने वाले उदक को [कृण्वन्ति] उत्पन्न करते हैं उन तीनों की [ज्योतिरग्राः] अग्र गण्य ज्योति में [तिस्रः प्रजाः] विद्या सभा राजसभा धर्मसभा [आर्याः] श्रेष्ठ होती हैं और [घर्मासः] वे तीनों अग्नि वायु सूर्य देदीप्यमान [उषसः] प्रभातवेला वा दिन को उत्पन्न कर अज्ञान को दूर करते हैं [सर्वान्+इत्] उन सबको [वसिष्ठाः] विद्वान् लोग जानते हैं । देखिये पंडित जी ! आपने जो विना विचार

किये कुछ का कुछ लिख दिया कि शूद्रों को यज्ञाधिकार नहीं है सो इस बात का इस में कोई वर्णन नहीं है। आपने इस पुस्तक को छपाकर सिवाय बदनामी के और कोई लाभ नहीं उठाया ॥

आप ने नं० ५ पर लिखा है कि बहुत से मन में कुछ वाणी में कुछ और व्यवहार में कुछ माने हुए हैं सो इस अपने लेख का दृष्टान्त आपने अपने ही को स्वयमेव बना कर दिखला दिया है। क्योंकि प्रथम तो आप ने 'वैदिक-वर्णव्यवस्था' छपवाई और अपना मन्तव्य उसमें प्रकाशित किया। जब आर्यों ने आप की पुस्तक को सिद्धान्त-विरुद्ध साबित किया तब आपने अख़बारों में छपवाकर यह प्रकाशित किया कि यह पुस्तक मेरा सिद्धान्त नहीं है मैं तो स्वामी जी के अनुकूल हूं। परन्तु पुनरपि आप इस के भी विरुद्ध २९।१२।१६ के वेंकटेश्वर में उनके सिद्धान्त पर भी आक्षेप करते हैं। फिर बतलाइये कि आप का क्या मत है कुछ भी पता नहीं चलता।

१-(वै० व० पृ० ८) ब्राह्मणो वैव राजन्यो वा वैश्यो वा ते हि यज्ञियाः। ३।१ शतपथ ॥

निर्देशाद्वा त्रयाणांस्यादग्न्याधेयेन सम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतेरित्यात्रेयः ६।१।२६ ॥पू०मी०

अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ६।१।३३ ॥पू० मी०

यद्यपि इन वचनों से गौणतया यज्ञ का अधिकार द्विजमात्र को दिया गया है तथापि मुख्यतया उसका

अधिकार वेद तथा मीमांसा में केवल ब्राह्मणों को ही दिया है-देखिये—

२-विप्रो यज्ञस्य साधनः ३। २७। ८
यज्ञेषु विप्र राउये ८। ३। ४॥
ब्राह्मणानां वा इतरयोरार्त्विज्याभावात् ६। ६। १८॥ स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् १२। ४। ४४॥

मीमांसा के उपरोक्त सूत्रों में (अपशूद्राणां) इस पद से शूद्रों को सर्वथा और (इतरयोरार्त्विज्याभावात्) इस पद से क्षत्रिय वैश्य को भी यज्ञ से पृथक् कर दिया है॥

३-चत्वारो वर्णा यज्ञमिमं वहन्ति। महाभारत वनपर्व अ० १३४॥

इस प्रमाण से जहां चारों वर्णों का यज्ञ में अधिकार बताया जाता है वहां यज्ञ शब्द से कर्मकांड का ग्रहण नहीं है। देखिये इसी श्लोक की टीका नीलकण्ठ (यज्ञे-ज्ञानयज्ञे शूद्रस्याप्यधिकारः) ज्ञानोपदेश रूप यज्ञ में शूद्र का अधिकार है ऐसा लिखते हैं॥

वेद में स्पष्ट रूप से शूद्र के लिये (तपसे शूद्रम् ३०। ६) ऐसा लिखा है। तप का अर्थ मनु जी (तपः शूद्रस्य सेवनम्) ऐसा करते हैं। तप का अर्थ यज्ञ करना आज तक किसी आचार्य्य ने नहीं किया है। मीमांसा में (अपशूद्राणां) स्पष्ट लिख ही दिया है॥

समीक्षक—आपने जो शतपथ का प्रमाण दिया कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीन ही यज्ञाधिकारी हैं शूद्र

नहीं सो उक्त प्रमाण विना गुणकर्म के केवल जन्म से ब्राह्मणत्वादि का साधक नहीं ॥

जैसे जो २ वकालत पास करता जाता है वही वकील बनता जाता है और वकालत करने का अधिकारी होता है इसी प्रकार मनुष्यमात्र में से जो २ ब्राह्मणादि वर्णों का पास करता जायगा वह २ ही यज्ञाधिकारी होता जावेगा। जो फ़ेल होगा वही शूद्र रहेगा ॥

परन्तु ऐसा अन्याय तो आप ही के दिल में है कि जो न वेद पढ़ते हैं न वेदोक्त कर्म करते हैं उनको तो आप ब्राह्मण की पदवी से भूषित करते हैं और जो गुण-कर्म से बनना चाहते हैं उनको आप रोकते हैं-सो अब यह अन्याय नहीं चल सकेगा। अब इसका अन्त आगया है। पुनः आप ने जो मीमांसा का सूत्र प्रमाण देकर लिखा है कि—

निर्देशाद्वा त्रयाणांस्यादग्न्याधेयेन सम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतेरित्यात्रेयः ६। १। २६॥

अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थ की श्रुति से तीन यानी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही को अग्न्याधेन का अधिकार है शूद्र को नहीं-सो यह सूत्र पूर्व पक्ष का है और केवल आत्रेय का मत है परन्तु इस का उत्तर महर्षि जैमिनि जी अपने गुरु के पिता बादरि के मत से इस प्रकार देते हैं कि:—

निमित्तार्थेन बादरिः तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ६। १। २७॥

महर्षि बादरि कहते हैं कि वेदोक्त कर्मों में जो अधिकार उत्पन्न होता है वह योग्यतासे होता है और वह योग्यता नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं; अतः योग्यता उत्पन्न हो जाने से मनुष्यमात्र को वैदिक कर्मों का अधि-

कार है क्योंकि (जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते) जन्म से मनुष्यमात्र शूद्र होते हैं पुनः वैदिक संस्कारों से मनुष्य के आत्मा संस्कृत किए जाते हैं, तब द्विज बनते हैं। परन्तु जो संस्कार करने पर भी संस्कृत नहीं होसक्ते हैं वे शूद्र ही रहते हैं। तब पता लगजाता है कि अमुक मनुष्य के आत्मा में संस्कृत होने की योग्यता नहीं है। पुनः आपने लिखा है कि:-

अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ६,१,३२

अर्थात शूद्र से रहित द्विजों ही को वैदिक कर्मों का अधिकार है।

सो यह भी पूर्वपक्ष का सूत्र है। इसका उत्तर सूत्र ३६। ३७ में दिया गया है और ३२ से लेकर ३५ तक शंका की गई है देखिये:-

अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ६, १, ३६

अर्थात वेदविद्या का अभाव होने से शूद्रों को वेदोक्त कर्मों का अधिकार नहीं है। जिन कुलों में परम्परा से वेदविद्या चली आती हो उनके संतानों को योग्यता होने पर प्रथम ही यज्ञोपवीतादि संस्कार और वैदिक कर्मों में अधिकार दिया जाता है परन्तु जिनकी कुलपरम्परा में से वेदविद्या का अभाव हो जावे तो फिर वे भी शूद्र हो जाते हैं। फिर सत्संग विद्या से योग्यता उत्पन्न हो जाने पर जब उन शूद्रों में भी वेदविद्या का भाव हो जावे तो वे भी द्विजत्व को प्राप्त होकर अपनी सन्तान का प्रथम ही यज्ञोपवीत संस्कार कराकर वेदाधिकारी बनावें जैसा कि अगले सूत्र से बताया है कि:—

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ६, १, ३७

अर्थात्—इसी प्रकार के उदाहरण देखने में आते हैं जैसे कि छान्दोग्य में सत्यकाम जाबाल की योग्यता उस के स्वभाव के देखे जाने से जानी गई कि वह ब्राह्मणत्व धर्म का पात्र है। अतः ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वैश्यत्व धर्म हैं जाति नहीं ॥

इसलिये आपका यह कहना सर्वथा असंगत है कि उक्त सूत्र में ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्यों को भी यज्ञाधिकार गौणतया है।

फिर जो आपने अगला सूत्र इस विषय में प्रमाण दिया है कि वैश्य और क्षत्रियों को भी यज्ञ से पृथक् किया गया है—सो यह लिखना आप का सूत्रार्थ से विरुद्ध है, देखिये—

ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात्

६, ६, १८ मीमांसा

भावार्थ—क्षत्रिय और वैश्य को सत्र याग में ऋत्विक् का विधान न होने से ब्राह्मण ही को ऋत्विक् होने का विधान है ॥

अब बतलाईये ! आपने जो असंगत अर्थ लिख दिया कि क्षत्रिय और वैश्य को यज्ञ से पृथक् किया गया है सो यह सूत्र के किस पद का अर्थ है? किन्तु किसी का नहीं वास्तव में ऋत्विक् वरण किये जाने का निषेध है क्षत्रिय वैश्य यजमान तो रहेंगे ही यज्ञाधिकार का निषेध नहीं ॥

पुनः आपने क्षत्रिय वैश्य के यज्ञाधिकार के निषेध में नीचे लिखा सूत्र दिया है सो भी ठीक नहीं—देखिये ॥

स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् १२ । ४ । ३४

ब्राह्मणनामेवार्त्विज्यं स्यात् नेतरयोर्वर्णयोःकुतः

स्मृतेः एवं शिष्टाः स्मरन्ति याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः ब्राह्मणानामेव वृत्त्युपाया इति स्मृतिश्चात्रप्रमाणम् ॥

अर्थात् ब्राह्मणों ही को ऋत्विक् होना चाहिये, औरों को नहीं; क्योंकि स्मृति में ऐसा ही शिष्ट लोग कहते हैं कि यज्ञ कराना पढ़ाना दान लेना ब्राह्मण की जीविका के लिये ये ही उपाय हैं। इस में स्मृति प्रमाण है यथा :— अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ उक्त ६ कर्मों में से अध्यापन याजन और दान ये तीन कर्म ब्राह्मणों को जीविकार्थ स्मृति में कहे गये हैं। इसीलिये ब्राह्मण ही को ऋत्विक् होने का विधान है; न कि क्षत्रिय वैश्यों को यज्ञ करने का निषेध। अतः (क्षत्रिय और वैश्यों को भी यज्ञसे पृथक् किया गया है) यह लेख आपका स्वकपोलकल्पित है।

इसके आगे जो आपने दो मन्त्र के वाक्यखण्ड इस प्रमाण में दिये हैं कि (यज्ञाधिकार केवल ब्राह्मण ही को है) यह भी आपने भोले मनुष्यों को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है—देखिये सत्यार्थ :—

वाजी वाजेषु धीयतेऽध्वरेषु प्रणीयते।
विप्रो यज्ञस्य साधनः ॥ ३। २७। ८

अग्निर्देवता ऋ० म० ३। २७। ८

हे धर्म की जिज्ञासा करने वाले पुरुषो! (वाजेषु) विज्ञान और क्रियास्वरूप (अध्वरेषु) हिंसारहित यज्ञों में (यज्ञस्य) उत्तम व्यवहार का (साधनः) सिद्धकर्त्ता (वाजी) वेगयुक्त अग्नि (धीयते) धारण किया जाता है

वैसे (विप्रः) मेधावी (प्र+नीयते) प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ-हे मनुष्यो! जैसे अग्निहोत्र आदि यज्ञों में मुख्यता से अग्नि का आश्रय किया जाता है, वैसे ही विद्या विनय उत्तम शिक्षा के लिये विद्वानों का आश्रय करना चाहिये।

कहिये पं० जी! इस मन्त्रमें आपके उक्त लेख कि वेद-मन्त्र में भी ब्राह्मण ही को यज्ञाधिकार है अन्यों को नहीं—इस का मंत्र में पता भी नहीं आपने (विप्रोयज्ञस्य साधनः) इस वाक्यखण्ड को मन्त्र के अन्य पदों से तोड़ कर असम्बद्ध प्रलाप से अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया सो व्यर्थ ही हुआ।

फिर आपने दूसरे मंत्र का भी वाक्यखंड इसी पुष्टि में दिया है कि ब्राह्मण ही को यज्ञाधिकार है क्षत्रियादि को नहीं उस का अर्थ भी देखिये।

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे। सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्र-राज्ये ॥ ८।३।४ ऋग्वेद इंद्रोदेवता ॥

यह इन्द्र (सहस्रं) असंख्यात (ऋषिभिः) अती-न्द्रियार्थदर्शक ऋषियों से (सहस्कृतः) सहसा बलयुक्त किया गया ऐसा होने पर वह इन्द्र (समुद्र, इव) समुद्र की नाईं (पप्रथे) विस्तृत होता हुआ पुनः (अस्य च) इस इंद्र का (सत्यः) निरन्तर सुप्रसिद्ध (महिमा) महत्त्व और (शवः) बल (यज्ञेषु) यज्ञों में (विप्रराज्ये) मेधा-वियों के राज्य में (गृणे) स्तवन किया गया।

इस मन्त्र में भी क्षत्रिय वैश्यों को यज्ञाधिकार से पृथक् नहीं किया गया प्रत्युत इन्द्र अर्थात् राजा को ऋषियों के

द्वारा विज्ञान बल की प्राप्ति पुनः उस बल से बुद्धिमानों में राजा की प्रशंसा होने का वर्णन है।

इस से आगे आपने महाभारत का प्रमाण दिया है कि-चत्वारो वर्णाः यज्ञमिमं वहन्ति। महा०वनपर्व अ०१३४

अर्थात् चारों वर्ण इस यज्ञ को वहन करते हैं। फिर आप नीलकण्ठ टीकाकार का सहारा लेकर यहां यज्ञ का अर्थ आपने ज्ञानयज्ञ किया है (ज्ञानयज्ञे शूद्रस्याप्यधिकारः) यहां पर आप बुद्धि को तिलांजलि देबैठे हैं क्योंकि जब ज्ञानयज्ञ का शूद्र को अधिकार है तो कर्मयज्ञ तो ज्ञानयज्ञ से नीचे ही दर्जे का है, क्योंकि (ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती है। अतः यह आप का व्यर्थ ही प्रलाप है॥

पुनः आपने लिखा है कि यजुर्वेद में स्पष्ट लिखा है कि (तपसे शूद्रम् ३०।६) मनु जी ने लिखा है कि (तपः शूद्रस्य सेवनम्)॥

उत्तर-न जाने पंडित जी को अपने लेख में पूर्वापर विरोध का ध्यान क्यों नहीं रहता है जब कि पूर्वोक्त प्रमाण से ज्ञानयज्ञ का अधिकार देचुके हैं तो सेवाकर्म से क्या हानि होगी?॥

जब शूद्र विद्वानों की सेवा करेगा तभी तो उसको ज्ञान की प्राप्ति होवेगी। मालूम होता है कि आपके दिल में सेवक को उद्धार करने के लिये दया नहीं; मुफ्त में ही सेवा लेना चाहते हैं॥

वैदिक० पृष्ठ १० पं० ८ से-

१ श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च॥

(ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० ३ सू० ३८)

इस सूत्र के भाष्य में शंकर, रामानुज, माध्व आदि आचार्य–" श्रवणे त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे हृदयविदारणम् ॥ " ऐसा लिखते हैं ॥

इस का अनुवाद अति स्पष्ट होने के कारण हम नहीं करते हैं ॥

उत्तर—पण्डित जी ! यहां पर आप वैदिकसिद्धान्त से बिलकुल गिर गये हैं । जिस वेदान्तसूत्र का आप प्रमाण देते हैं उसी के तृतीयपाद के २५ वें सूत्र से परमात्मा का प्रकरण है फिर सूत्र ३४ से लेकर ३८ तक ५ सूत्रों में अधिकारानधिकार का प्रकरण चला दिया है । पुनः सूत्र ३९ में वही ईश्वरप्रकरण है । इस से यह निश्चय होता है कि उक्त ५ सूत्र प्रकरणविरुद्ध होने से प्रक्षिप्त हैं । हां, यह अन्यत्र स्मृतियों में ठीक है कि बिना यज्ञोपवीत संस्कार के वेदाध्ययन का निषेध है, क्योंकि द्विजों में सभ्यता के होने और गर्भाधान से लेकर चूडाकरण तक संस्कार करने और माता-पिता के पठित होने से सन्तान शुद्ध, पवित्र, तीव्रबुद्धि होते थे । अतः उनके सन्तान ८ वर्ष की आयु से यज्ञोपवीताधिकारी होते थे; परन्तु जिन के कुल में परम्परा से असभ्यता ने घर कर रक्खा हो उनको ऋषि लोग प्रथम सदाचार की साधारण शिक्षा देकर सभ्य बनाते थे । जब वे अपनी कुलपरम्परा को उत्तम बना लेते थे तब वे द्विजों के समुदाय में मिला लिये जाते थे और वेदाधिकारी किये जाते थे। परन्तु आज आप देखते हैं कि द्विजत्व किन में है ? कौन वेद पढ़ते हैं ? मिथिला देश के सारे ही ब्राह्मण तथा बंगाल, अवध, बिहार, यू०पी०, पञ्जाब आदि प्रान्तों में ब्राह्मणों की कुलपरम्परा वेद के पाठमात्र से

भी हीन है। कोई मांसभक्षी हैं, पुराणपाठी हैं, वाममार्गी हैं प्रत्युत शतशः कुल संस्कारहीन हैं; केवल दाक्षिणात्य ब्राह्मण मूलमात्र को पढ़ते हैं। फिर महर्षि मनु का प्रमाण है कि :—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

जो द्विज वेदों को न पढ़ कर अन्य ग्रन्थों को पढ़ते हैं वे इसी जीवन में सकुटुम्ब शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते हैं॥

कहिये! आप अब किनको ब्राह्मण कहते हैं और किन को शूद्र कहेंगे? आप ने बाबूपार्टी से चिढ़ कर जो कटाक्षरूप असम्बद्ध, वेदविरुद्ध लेख लिखा है यह क्या समझ कर लिखा? महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने तो वेदाशय को समझ कर और देशकाल व आपद्धर्म को जान कर ही प्रजा को वेदों की तरफ लाने का यत्न किया है। उस से संसार का उपकार हो रहा है और होवेगा, परन्तु आप ने जो ऐसे समय में शङ्कर व रामानुज व माध्व का पुराना हुक्मनामा निकाला है कि (श्रवणे) शूद्र वेद को सुने तो (त्रपुजतुभ्यां) सीसा और लाख गरम करके (श्रोत्रपरिपूर्णम्) कानों में भर देवे और (उच्चारणे, जिह्वाच्छेदः) उच्चारण करे तो जीभ काट दे और पढ़ कर धारण करे तो (धारणे हृदयविदारणम्) हृदय चीर डाले॥

कहिये! यह हुक्मनामा आप ने कौन से शूद्रों के लिये निकाला है? क्या डा०टीबो के लिये जो कालिजमें वेद पढ़ाता था अथवा जर्मनदेशनिवासियों के लिये वा शतशः ब्राह्मण

धनाढ्य आदि जो कबीर के चेले हैं उन के लिये वा पुराणपाठी, मांसभक्षी, वाममार्गी, शैव, शाक्त, वेदविहीन ब्राह्मणों के लिये ? किनके लिये ? नहीं २ महाशय जी ! उनके लिये आप क्यों निकालेंगे ! वे तो सब आप के मत में ब्राह्मण ठहरे, किन्तु यह हुक्मनामा आपने अपनी कल्पित बाबूपार्टी के लिये ही निकाला होगा, परन्तु आप ने यह नहीं अनुभव किया कि जिस काल में मूढ़,पक्षपाती, नाम के ब्राह्मणों ने यह हुक्मनामा निकाला था उसी समय सारी दुनिया के शूद्रों ने एका करके ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया । ५० करोड़ बौद्ध होगये, सहस्रों कबीरपन्थी, नानकपन्थी, दादूपन्थी हो २ कर उलटा ब्राह्मणों को शिष्य बना डाला और पैर पुजवाये । ब्राह्मणों की महानिन्दा करते हैं । यह आप के उस पुराने हुक्मनामे का प्रभाव है ! कहिये उस औरङ्गज़ेबी हुक्मनामे को त्याग कर अब भी वैदिकसर्वरक्षक ब्राह्मणत्व को समझोगे या कि नहीं ? अफ़सोस है कि आप का "यथेमां वाचं कल्याणी०" मन्त्र पर से विश्वास हट गया ॥

वै० व० व्य० पृ०१० पं० १५ में—जैमिनी जी पूर्वमीमांसा में लिखते हैं :—

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् । ६ । १ ॥
निषादस्थपतिं याजयेत् ॥

आप० श्रौ० प्र० ९ कं० १० ॥

इस में रुद्रयाग का प्रकरण है । यज्ञपरिभाषा में रुद्रयाग पशुबध के प्रायश्चित्त में लिखा है । निषाद का अर्थ (निषद्य हन्तीति निषादः प्राणिबधजीवनः) निषाद का

काम जङ्गल में बैठ प्राणियों का मारना है; निषाद अपने धन से द्विजों से यज्ञ करावे ॥

उत्तर—न जाने पण्डित जी की बुद्धि पर क्या परदा पड़ा है! जब कि निषाद को आप बधिक मानते हैं तो उस के धन से आप द्विज होकर यज्ञ कराना क्यों स्वीकार करते हैं? और जब कि यज्ञ कराओगे तो दक्षिणा भी लोगे; फिर ऐसे द्विजों में और रावण में क्या अन्तर होगा? मीमांसा में तो स्थपति शब्द से तक्षक अर्थात् बढ़ई निषाद का ग्रहण किया है। प्राचीन सभी ऋषि तक्षक, रथकार आदि शुद्ध शूद्रों को यज्ञाधिकार ब्राह्मणों, श्रौतों में लिखते हैं। फिर इस से आप की क्या सिद्धि हुई?

पृ० १० पं० २६—शूद्रों के लिये तप करना इतिहास से विरुद्ध है ॥

पृ० ११—वाल्मीकीयरामायण में लिखा है कि शम्बूक नामक एक शूद्र राम के राज्य में तप करने लगा था। रामचन्द्र जी ने यह अनुचित जानकर तलवार से उसका शिर उतार लिया था। यदि यह वेदानुकूल होता तो मर्य्यादा-पुरुषोत्तम ऐसा क्यों करते—महाकवि भवभूति व कालीदास भी ऐसा ही लिखते हैं ॥

उत्तर—वाल्मीकिरा० में शतशः श्लोक प्रक्षिप्त हैं जिन को राम टीकाकार और श्रीधरादि भी सर्ग के सर्ग प्रक्षिप्त लिख गए हैं। इसी तरह उक्त शम्बूक विषयक श्लोक भी प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि ईश्वर की भक्ति चांडाल भी कर सकता है। फिर रामचन्द्र ऐसा अन्याय कभी नहीं कर सकते थे। अतः यह झूंठी गप्प है ॥

फिर यह भी आप को अपनी विद्या-बुद्धि से विचार करना था कि करोड़ या दो करोड़ ब्राह्मण होंगे। उन में भी पढ़े लिखे कठिनाई से करीब २ दश पांच हज़ार ही होंगे उन में भी वेदों में श्रद्धा रखने वाले अत्यन्त ही न्यून होंगे। इन के अतिरिक्त १६ या १७ करोड़ के लगभग शूद्र व अछूत समुदाय होगा इतने बड़े समुदाय को अशिक्षित वा वैदिक धर्म से विमुख रखना स्वदेश का नाश करना है। यदि कहो कि शास्त्र मने करता है तो यह भी आपकी अनभिज्ञता है; क्योंकि यदि आपका कथन सत्य भी मान लिया जावे तो यज्ञोपवीत से हीन वेदविद्या से विमुख क्षत्रिय और वैश्य भी तो शूद्र हुए फिर उनका यज्ञोपवीत क्यों कराते हो? तथा कुलपरम्परा से वाममार्गी शैव शाक्त वैष्णव मांस-भक्षी वेदविमुख ब्राह्मणों को क्यों ब्राह्मण मानते हो और क्यों यज्ञोपवीत देते हो? वे तो अनेक वर्षों से शूद्रों से भी बढ़कर नीचकर्म करते हैं। इसी वास्ते गया के पण्डों को वेंकटेश्वर ने दान देना मना लिखा था। शोक है कि आप पक्षपात से शूद्रों से दुश्मनी करते हैं। उचित तो आपको यह था कि जैसे अपने पगों की सेवा करते हो, उन को स्वच्छ, पवित्र और दृढ़ रखते हो, यज्ञादि कर्मों में उन को स्वच्छ आसन पर रख कर साथ बैठते हो, तब वे भी तुम्हारी सेवा करते हैं, विपत्ति समय में वे चाहे आप खण्डित हो जावें पर तुम्हारे सारे शरीर की रक्षा करते हैं (तत्रस्थिरसुखमासनम्, ततोद्वन्द्वानभिघातः) योगसूत्र में लिखा है कि जब ठीक सुखासन होता है तो शीतोष्ण द्वन्द्व दोषों का अभिघात होता है। जब कि बिना पगों के जोकि शूद्र हैं योगी समाधि ही नहीं लगा सकता है अथवा जो मुक्ति

दिलाने में भी अपने सेवाकर्म से सहायकारी हैं तद्वत् जो पुरुष शूद्रों को अपना अङ्ग नहीं समझता वह कृतघ्नी है, वह कैसे धर्म अर्थ काम मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। भला आप जैसे पण्डित जब गिरे हुए दीनों पर उनको उठाने के अतिरिक्त सेवा लेकर भी आपत्ति का पहाड़ पटकते हैं, कानों में शीशा भरवाते हैं, जीभ कटवाना चाहते हैं, हृदय विदीर्ण कराना चाहते हैं, विद्या विज्ञान से हटा कर मूढ़ रखना चाहते हैं तो बताइये कि आप कैसे ब्राह्मणत्व की रक्षा कर सकते हैं? और कौन मूर्ख तुम को भारतहितैषी कहेगा। अतः इस द्वेषभाव को त्याग कर प्राणिमात्र के हितैषी बनो। आगे आप की इच्छा॥

वै० स० व्य० पृ० ११ में—

१—आथर्वणस्य वेदस्य शेषइत्युपदिशन्ति॥

आपस्तं० ११। ९॥

इस सूत्र के आधार पर शूद्र को अथर्व वेद पढ़ने का अधिकार बताते हैं परन्तु सूत्र में शूद्र का नाम तक नहीं॥

२—ब्रह्म वैस्तोमानां त्रिवृत्क्षत्रंपञ्चदशो दिशः सप्तदशः शौद्रोवर्ण एकविंशः॥

ऐ० कं० ८। १॥

३—गायत्रच्छन्दसो ब्राह्मणाः ९ त्रिष्टुप्छन्दसः क्षत्रियाः १२ जगतीच्छन्दसो विशः १५ अनुष्टुप्-छन्दसः शूद्राः॥

१९ (शांखायन) अ० १४॥

इन प्रमाणों के आधार पर कोई २ शूद्र को अनुष्टुप् छन्द के मन्त्रों का अध्ययन सिद्ध करते हैं—परन्तु यह बात

इन सूत्रों में नहीं लिखी है इन सूत्रों का आशय भिन्न है—ये प्रमाण वेदविरुद्ध हैं ॥

उत्तर—जब कि ये प्रमाण वेदविरुद्ध हैं तो आप क्यों वैदिकवर्णव्यवस्था लिखने बैठे थे उन को क्यों उद्धृत किया और यदि किया तो उन का आशय ठीक २ क्यों नहीं लिखा? सत्य तो यह है कि प्राचीन काल के ऋषियों ने तो शूद्रों पर कृपादृष्टि रक्खी, परन्तु आप विपरीत करते हैं ॥

[आथर्वणस्य वेदस्यशेष इत्युपदिशंति]

जब कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को वेदत्रयी के अधिकार का वर्णन कर चुके तो शेष शब्द से दयालु आपस्तंब जी ने शूद्र ही का निर्देश किया है । यदि शांखायन सूत्रों में शूद्र के लिये अनुष्टुप् छन्दों का अधिकार दिया है तो आप का क्या अधिकार है कि किसी को पढ़ने से रोक सकें ? आप खुद तो वेद पढ़ते नहीं, अग्निहोत्र, संध्या तक नहीं करते, अन्यों को निषेध करते हो। फिर आप का धर्म ही क्या ? केवल ब्राह्मणकुल का अभिमान कर रहे हो ॥

वै० व० व्य० पृष्ठ १२

शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् । रथकारविषयकमेवैतत् ॥ तस्य च मातामहीगतंशूद्रत्वम् ॥ पार० २, १ ॥

इस सूत्र में अदुष्टकर्मा शूद्र का उपनयन लिखा है वह भी रथकार के लिये ही है इत्यादि ॥

उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः ।

आपस्तंब १, १, २, ११ ॥

श्रुति केवल द्विजों के लिये नियत है ॥

मन्त्रवर्जमनुपनीतं शूद्रमध्यापयेत्--चरके ॥

पारस्कर का मत वेद तथा मीमांसा के विरुद्ध है ॥

ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुर्यजुर्वेदं क्षत्रस्याहुर्योनिम् ॥ सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः॥ तैति० ब्राह्मण ३, १२, ९, ४ ॥

इस में ऋक् से वैश्य यजु से क्षत्री साम से ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं परन्तु शूद्र किसी वेद से नहीं ॥

उत्तर–पंडित जी! जहां आप के स्वार्थ का प्रमाण आता है उसको तो आप स्वीकार कर लेते हैं और जो आप के स्वार्थ की सिद्धि नहीं करता है उसको आप झूंठ मूंठ ही मीमांसा आदि के विरुद्ध लिख देते हैं। यह ठीक नहीं ॥

पारस्कर जी ने (अदुष्टकर्मा) अर्थात् सदाचारी शूद्र को उपनयन लिख दिया तो विरुद्ध कैसे होगया क्योंकि मीमांसा में तो स्पष्ट लिखा है कि:—

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारः स्यात ६, १, ४॥

फलार्थी अर्थात् सुखरूप फल के अर्थी होने में शास्त्र के सभी अधिकारी हैं।

चातुर्वर्ण्यमविशेषात ५, १, २५

शास्त्र के पढ़ने में चारों वर्ण का अधिकार है, क्योंकि कामना में समान अधिकार होने से ॥

वैगुण्यान्नेति चेन्नकाम्यत्वात ॥ ६, १, ३०

यदि कहो कि अनुपवीती, अव्रती आदि वैगुण्य होने से शूद्र को अधिकार नहीं तो सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब शूद्र में उच्च बनने की कामना होगी तो वह अवश्य ही उपनयन और व्रत का आचरण करेगा। अतः मीमांसा के विरुद्ध आप ही का लिखना है न कि पारस्कर का॥

उपनयनं विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः॥

आपस्तम्ब १। १। २। ११॥

श्रुति से उपनयन संस्कार विद्यार्थियों के ही लिये है, इसलिये महर्षि गौतम ने जाबालि का संस्कार कराया, क्योंकि वह विद्या का अर्थी था। "मन्त्रवर्जमनुपनीतं शूद्रमध्यापयेत्।" यह जो चरक का प्रमाण आप ने दिया यह भी द्विजत्व को अवश्य ही शूद्रों में उत्पन्न करेगा, क्योंकि जब वेद को छोड़ कर अन्य शास्त्रों को शूद्र पढ़ेगा तो वेदों की तरफ भी उस की रुचि बढ़ेगी। जब वेद पढ़ना चाहेगा तो अवश्य ही यज्ञोपवीत कराना होगा॥

देखो ऐतरेय ब्रा० २। १२॥

दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः॥

दासी के पुत्र जुवारी शूद्र कवश ऐलूष को ऋषियों ने यज्ञ से निकाल दिया, परन्तु फिर उसने ब्रह्मचर्य धारण करके ऋग्वेद पढ़ा और ऋग्वेद मं० १० सू० ३। ३०। ३४ का ऋषि हुआ॥

पृषध्रस्तु गोगुरुवधाच्छूद्रत्वमगमत्॥

वि० पु० ४। १। १४॥

पृषध्र ब्राह्मण गौ-गुरु बध करने से शूद्र होगया। नेदिष्ठ का पुत्र नाभाग कर्म से वैश्य बन गया॥

वि० पु० ४। १। १६॥

कण्व ब्राह्मण मिश्र देश से १० सहस्र म्लेच्छों को लाया, उनको पढ़ाया, फिर शूद्र वर्ण दिया। पुनः उनमें से दो हजार को वैश्य बनाया और पृथु को क्षत्रिय बनाया। आप जैसे अहंकारी कण्व नहीं थे। ऋक् से वैश्य यजुः से क्षत्रिय साम से ब्राह्मण की जो उत्पत्ति आपने लिखी है इस तैत्तिरीय श्रुति का यही मतलब होसक्ता है कि जो वेदाध्ययन करेगा वही ब्राह्मणादि वर्ण में दाखिल होगा अन्यथा नहीं। पुस्तकों वा मंत्रों में से आदमी पैदा नहीं होते। क्योंकि जो मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में बस कर सांगोपांग सस्वर साम के सप्तविध गान को अर्थ ज्ञान सहित जानेगा उसी में तो ब्राह्मणत्व की उत्पत्ति होगी अतः विना वेदविद्या के पढ़े किसी मनुष्य में भी ब्राह्मणत्व वा क्षत्रियत्व वा वैश्यत्व उत्पन्न नहीं होसक्ता है॥

वै० व० व्य० पृ० १२ में—

रमणीयाचरणा रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा॥

(छान्दोग्य० प्रपा० ५, खण्ड १०, श्रु० ७)

इस वचन से द्विजों को उत्तम योनि में और शूद्र को कुत्सित नीचयोनि में माना है।

उत्तर—यहां तो आप ने श्रुति का विरुद्ध अर्थ लिख कर विचारे शूद्रों को कुत्सित और नीचयोनि कह कर गाली दी है। जिस शूद्रवर्ण के वास्ते मनु जी ने (एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया) अनिन्दित आचरणों से तीनों वर्णों की श्रद्धा से सेवा करना कहा है, उन को आप नीच बतलाते हैं। शोक आप की बुद्धि पर। श्रुति का सीधा अर्थ यह है कि जो मनुष्य श्रेष्ठ आचरण करते हैं

वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के कुलों में जन्म लेते हैं और जो पापाचरण करते हैं वे कुत्ते, शूकरादि योनि को प्राप्त होते हैं। शूद्र का नामोनिशान भी श्रुति में नहीं है। देखिये श्रुति का अगला भाग :- य इह कपूयाचरणा अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चांडालयोनिं वा ॥

वै० व० व्य० पृ० १२ में:—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम् ॥

इस पद्य में स्त्री, शूद्र, वैश्यों को पापयोनि में गिना है॥

उत्तर—न जाने आपकी बुद्धि में क्यों विपरीतता आगई है कि अब तक वैश्यवर्ण को वेदोक्त प्रमाणों से द्विज लिखते आये और अब वेदविरुद्ध प्रमाण देकर पापयोनि बताने लगे। यदि स्त्री शूद्र और वैश्य पापयोनि हैं तो फिर पापयोनियों का दान क्यों खाते हैं? यदि खाते हैं तो पापी अवश्य हुए। यदि स्त्री पापयोनि हैं तो सन्तान भी सारी पापी होनी चाहिएं। अतः यह वाक्य किसी मूढ़बुद्धि का है; क्योंकि (मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद) माता पिता आचार्य इन तीन की शिक्षा से मनुष्य ज्ञानी होता है। इन में पहली आचार्या माता है, बिना माता की शिक्षा के मनुष्य कभी धर्मात्मा नहीं बन सक्ता है॥

वै० व०व्य० पृष्ठ १३ में :—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥१।४।२५

भागवत के इस पद्य में स्त्री शूद्र और वैश्यों को वेद का अनधिकारी बतलाया है। पापयोनियों होने के कारण इन को वेद का अधिकार नहीं॥

उत्तर—यह भागवत का वाक्य वेदविरुद्ध होने से किसी स्त्रीजाति के शत्रु पण्डितम्मन्य का घड़ा हुआ है, क्योंकि वेद में आज्ञा है कि (ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्) ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या को समाप्त कर के कन्या युवा पति को वरे (अथर्ववेदे)। पुनः बृहदारण्यक के गर्भाधान संस्कार में लिखा है कि :—

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति० ॥

जो पुरुष ऐसी इच्छा करे कि मेरी पुत्री पंडिता हो और पूर्ण आयु को प्राप्त होवे वह तिलौदन पकाकर घृत युक्त हवन करके स्त्री पुरुष भोजन करें॥

फिर लोपामुद्रा वेद की ऋषिका हुई। गार्गी मैत्रेयी ने वेदरूपी तीर्थ में स्नान किया तथा मण्डन मिश्र और राजा भोज की स्त्रियां विदुषी थीं॥

फिर हारीत ऋषि कहते हैं कि :—

द्विविधाः स्त्रियोब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्य्येति॥

अर्थात स्त्री दो प्रकार की होती हैं ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू। तहां ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का यज्ञोपवीत और अग्निदाधान वेदाध्ययन और स्वगृह से भिक्षाचर्य होना चाहिये। अतः उक्त भागवतादि के किसी मूढकृत वाक्यों को

प्रमाण देकर आपने अपने आत्मा को आर्यजनों में अप्रतिष्ठित किया है ॥

पृ० १३ वै० व० व्य०—यजुर्वेद में—

ब्रह्माअसृज्यत१क्षत्रमसृज्यत२शूद्रार्यावसृज्येताम्

इन के आधार पर ही ऋषि दयानन्द ने जातिभेद को ईश्वरकृत माना है। यदि यह ईश्वरकृत न होता तो (असृज्यत) पद नहीं आता ॥

उत्तर—वाह पण्डित जी ! आपको तो यही धुन लगी हुई है कि जैसे बने तैसे वर्ण को जाति का पर्यायी सिद्ध करें; परन्तु आप पण्डित होकर भी अन्धाधुन्ध चाल पर चल रहे हैं और न स्वामी जी कृत अर्थ पर विचार किया है न पदार्थ ही किया और उक्त मन्त्रों के टुकड़े देकर सिद्ध करने लगे कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये जाति हैं, परन्तु उक्त मन्त्रों में जाति का तो कोई भी ज़िकर नहीं। तौ भी जाति ईश्वरकृत तो अवश्य हैं ये तो सभी विद्वान् मानते हैं;लेकिन वर्ण तो विना गुण कर्म के योग के नहीं बनते हैं। देखिये उक्त मन्त्रों का अर्थ—

ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्॥ य०१४,२८

जो (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का रक्षक (अधिपतिः) सब का स्वामी परमात्मा है जिसने (ब्रह्म) सकलविद्यायुक्त वेद को (असृज्यत) रचा है उस की (तिसृभिः) प्राण, उदान, व्यान की गति से स्तुति करो ॥

क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोअधिपतिरासीत् सप्तदशभिः स्तुवत ॥ यजु० २९ अध्याय १४ ॥

(इन्द्रः) परम संपत्ति का हेतु सूर्य (अधिपतिः) अधिष्ठाता उत्पन्न किया है जिसने (क्षत्रम्) राज्य वा क्षत्रिय

कुल को (असृज्यन्त) रचा है उसको (सप्तदशभिः) दश अंगुली दो जंघा दो पिंडली दो प्रतिष्ठा और एक नाभि से इन सत्तरह अङ्गों से (स्तुवत) स्तुति करो ॥

नवदशभिः स्तुवत शूद्रार्य्यावसृज्येताम् अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ॥

यजु० ३० । १५ ॥

हे मनुष्यो ! जिसने उत्पन्न किये (अहोरात्रे) दिन और रात्रि (अधिपत्नी) सब काम की अधिकारी (आस्ताम्) हैं जिसने (शूद्रार्यौ) शूद्र और आर्य द्विज ये दोनों (असृज्येताम्) रचे हैं उसको (नवदशभिः) दश प्राण पांच महाभूत और मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार इन १९ से (स्तुवत) स्तुति करो ॥

देखिये ! उक्त मन्त्रों में वर्ण के लिये जाति शब्द का का प्रयोग कहीं भी ऋषि ने नहीं किया है। कदाचित् कहो कि शूद्र और आर्यों को रचा तो जन्म से वर्णव्यवस्था तो साबित होती है ॥

सो यह भी आपका कहना ठीक नहीं, क्योंकि आदि-सृष्टि में उत्पन्न होते ही जिन के आत्मा में परमात्मा ने वेदविद्या का उपदेश दिया तभी तो उन में द्विजत्व की उत्पत्ति ईश्वरकृत हुई न कि बिना वेद के द्विजत्व। जिनके वेसंस्कार शुद्ध नहीं थे वे शूद्र रहे; क्योंकि विना वेद के द्विजत्व का वेद ने ही निषेध किया है कि जिसका प्रमाण हम आगे चल कर देवेंगे ॥

वै० ध० व्या० पृ० १३ में लिखते हैं :—

मनुष्यों में द्विज प्रथम हुए इस का प्रमाण (द्विजाः प्रथमजाः) यह ऋग्वेद में आता है और द्विजों में भी

ब्राह्मण प्रथम हुए इसका प्रमाण (ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमः) यह अथर्ववेद में आया है ॥

उत्तर—यदि ब्राह्मण द्विजों से प्रथम हुए तो प्रथम शब्द दोनों मन्त्रों में क्यों आया? यह तो परस्पर वेदों में विरोध हुआ कि एक में तो द्विजों को प्रथम कहा और दूसरे में ब्राह्मणों को प्रथम। आप विद्वान् होकर वालकवत् चाहे जो पूर्वापर विरोध लिख कर क्यों विद्या को दोष देते हैं? फिर यह भी नहीं सोचा कि ब्राह्मण प्रथम ही हो जावें तो इससे आप को क्या इष्टसिद्धि हुई? पुरुष सूक्त में तो युगपत् काल में आदिसृष्टि में (साध्याः ऋषयश्च ये) मनुष्य और ऋषिलोक एक साथ उत्पन्न हुए और बृहदारण्यक में लिखा है कि (ततो मनुष्याः अजायन्त) पृथिव्यादि लोकों की उत्पत्ति के पश्चात् मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। फिर ब्राह्मण ग्रन्थों में भी लिखा है कि—(एकोऽहं बहुस्यामः । बहुस्यां प्रजायाः प्रजायेय) मैं एक हूं। प्रजा को उत्पन्न करके बहुत होऊं; बहुत सी प्रजा को उत्पन्न करूं ॥ अच्छा, अब आपके दिये हुए दोनों मन्त्रों के अर्थ को भी प्रकाशित करते हैं, देखें आपके इष्ट की कथंचित् सिद्धि होती है या कि नहीं।

उक्त प्रमाणों में से (द्विजाः प्रथमजाः) इसका अर्थ तो पृष्ठ० १६ में लिखा गया है। इस में (द्विजाः) और (प्रथमजाः) ये दोनों धेनु अर्थात् वाणी के विशेषण हैं अतः उसमें ब्राह्मण वा द्विजों का प्रकरण ही नहीं है। आप के द्वितीय वाक्यखंड (ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमः) का निम्नलिखित अर्थ है देखिये।

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।

स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥

अ० कांड ४ सू० ६ मं० १

(प्रथमः) सब वर्णों में प्रधान (दशशीर्षः) धर्म के दश लक्षण उत्तमांग शिरोवत् हैं जिस में सो दश धर्म के लक्षणों वाला (दशास्यः) चार वेद छः अङ्ग हैं मुखवत् जिसके अतः दश मुख वाला (ब्राह्मणः) वेदवेत्ता पुरुष (जज्ञे) जब प्रकट होता है (स) वही (प्रथमः) अग्रगन्ता (सोमं) वेदवाणी रूप सोम के रस को (पपौ) पीता है और (स) वही (विषम्) संसार से दुराचार रूपी विष को (अरसं) निर्गुण (चकार) कर देता है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥

मनुस्मृति अ० १०

ब्राह्मणो निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोध्येयश्चेति ।

पण्डित जी महाराज! उक्त मन्त्र में तो ब्राह्मण के गुण कर्मों का वर्णन करते हुए यह बतलाया है कि दश धर्म के लक्षणों और सांग वेदविद्या का धारण करने वाला ही ब्राह्मण मनुष्यजाति में से दुराचार को हटा कर सदाचार की स्थापना कर सकता है, अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं। फिर आप कैसे कहते हो कि द्विजों में भी ब्राह्मण प्रथम हुआ। मालूम होता है कि आपने विचार बिलकुल नहीं किया है; जल्दी २ जो मन में आया लिख डाला है। शोक है कि आप विद्वान् होकर लोगों को गुमराह करने लगे

हो । वेदविद्या में यह कलंक न होते हुए भी आप उस को कलंकित करते हो; कैसे भारत का कल्याण होगा ?

(वै० व० पृष्ठ १३)–महाभारत में युद्ध का वर्णन होना चाहिये धर्म की व्यवस्था लगाना वेद और मन्वादि का काम है–महाभारत का नहीं ।

उत्तर—पृ० ११ में तो आपने बाल्मीकि रामायण को प्रमाण मान कर तप करने वाले शूद्र को क़तल करने की व्यवस्था मानी और अब आप इतिहास का धर्म विषय में निषेध करते हैं । धन्य है–क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः-क्या हाल है आप की बुद्धि का ।

वै० व० पृ० १३ में पुनः –

अहं मनुरभवं सूर्यश्च अहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः ॥ ऋ० ४ । २६ । १

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ॥

मनु० अ० १२

इन प्रमाणों में मनु नाम परमेश्वर का है ।

(पृष्ठ १४ में)–वेद में जहां कहीं विप्र शब्द आता है वहां ब्राह्मण जाति का वाचक आता है जैसे:–

ऋषिर्विप्रः पुर एता जनानाम् ऋ० ९ । ८७ । ३ ॥

ऋषिर्विप्रो विचक्षणः ऋ० ९ । १०७ । ७ ॥

विप्रः प्रेष्ठः स ह्येषां बभूव–ऋ० १० । ६१ । २३ ॥

ऋषिर्विप्राणाम् ॥ ऋ० ९ । ९६ । ६

इन मंत्रों में विप्र और ऋषि एक साथ आए हैं । (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः) मंत्रों के द्रष्टा ऋषि कहाते हैं और मंत्रद्रष्टा ऋषि ब्राह्मण होते हैं क्षत्रियादि नहीं ।

अमर मेदिनी विश्व आदि कोषों में विप्र शब्द ब्राह्मण ही का वाचक है उक्त मंत्रों में विप्र को प्रेष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ कहा है (एषां) इस पद से मनुष्य जाति का ग्रहण है (पुर एता) का अर्थ अग्रगन्ता होता है इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यजाति का मार्गप्रदर्शक ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता है ।

उत्तर–१ आप ने जो (अहं मनु०) यह मन्त्र इस बात के प्रमाण में दिया है कि इस में मनु आदि नाम परमेश्वर के हैं, परन्तु आगे चल कर पृष्ठ १६ में आप ने अपने इस मन्तव्य का खण्डन कर दिया है । वहां आपने कक्षीवान् शब्द से एक ऋषि का ग्रहण किया है । अतः आप वेद में इतिहास मानते हैं । इसलिये आप की कोई भी वार्ता ठीक नहीं, क्योंकि पृष्ठ १३ की बात मानें तो पृष्ठ १६ की झूंठी । यदि पृष्ठ १६ की मानें तो पृष्ठ १३ की झूंठी । अतः आप सर्वांश में ही अविश्वसनीय हैं । देखिये मन्त्रार्थ ईश्वरवाक्य :–

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः । अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहम् कविरुशना पश्यत मा ॥ ऋ० । म० ४ । ३ । २६ । १

(अहं मनुः अभवम्) मैं मनु अर्थात् सृष्टिकर्ता सर्व विद्याओं का जानने वाला हूं (सूर्यः च) और चराचरात्मा सब का प्रकाशक हूं और (अहम्) मैं (कक्षीवान्) सम्पूर्ण सृष्टिकक्षा अर्थात् परम्पराओं से युक्त (ऋषिः) मन्त्रार्थद्रष्टा (विप्रः) मेधावी सर्वज्ञ (अस्मि) हूं और (अहम्) मैं (आर्जुनेयम्) सरलता का उत्पादक (कुत्स) वज्र अर्थात् बल को निरन्तर सिद्ध करता हूं और मैं

(उशना) सब के हित की कामना करता हुआ (कविः) सम्पूर्ण शास्त्रों को जानने वाला विद्वान् हूं । उस (मा) मुझ को तुम (पश्यत) देखो ॥

२—पुनः आप ने निम्नलिखित मन्त्र इस प्रमाण में दिये हैं कि इन मन्त्रों में विप्र शब्द ब्राह्मण जाति का वाचक आया है सो देखिये उक्त मन्त्रों में आप का अभीष्ट सिद्ध कितना होता है ॥

॥ पवमान सोमो देवता ॥

ऋषिर्विप्रः पुर एता जनानामृभुर्धीरः उशना काव्येन सचिद्विवेद निहितं यदासामपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् ॥ ऋ० ९ । ८७ । ३ ॥

(ऋषिः) अतीन्द्रियद्रष्टा (विप्रः) मेधावी (पुर एता) पुरोगन्ता (जनानाम्) मनुष्याणां (ऋभुः) उरु भासमानः (धीरः) धीमान् (उशना) सर्वकल्याणेच्छुः (सचित्) सएव (काव्येन) वेदेन (विवेद) लभते किं-(यत् आसाम्) (गोनाम्) गवाम् (अपीच्यं) अन्तर्हितं (गुह्यं) गोपनीयं (नाम) नामकं मुक्तिलक्षणं (निहितं) स्थापितं लभत इत्यर्थः ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम्हारे मध्य में जो (ऋषिः) अतीन्द्रियद्रष्टा (विप्रः) मेधावी (जनानाम) मनुष्यों का (पुर एता) अग्रगन्ता मार्गप्रदर्शक (ऋभुः) तेजस्वी (धीरः) धीमान् ध्यानशील (उशना) सब का कल्याण चाहने वाला है (सचित) वही (काव्येन) ईश्वर की कवितारूप वेद के द्वारा (आसाम् गोनाम् गवाम्) इस वेदवाणी के (अपीच्यं) अन्तर्हित (गुह्यम्) गोपनीय जो (नाम) मुक्ति रूपी नामक दुग्ध (निहितं) स्थापित है (विवेद) [लभते] प्राप्त करता है ॥

॥ पवमान सोमो देवता ॥

सोमोमीढ्वान् पवते गातुवित्तम ऋषिर्विप्रो विचक्षणः। त्वं कविरभवो देववीतम आ सूर्यं रोहयो दिवि ॥

ऋ० ९। १०७। ७॥

हे (सोमः) प्रियदर्शन आप (मीढ्वान्) सर्व कामों के सेवक हैं फिर कैसे हैं कि (गातुवित्तमः) श्रेष्ठ मार्ग को पकड़ाने वाले हैं और (ऋषिः) सर्व के प्रदर्शक हैं (विप्रः) मेधावी (विचक्षणः) सर्वद्रष्टा (कविः) क्रान्त प्रज्ञा वाले हैं सो (त्वं) आप (देववीतमः) विद्वानों से अत्यन्त कामना करने योग्य हैं और (दिवि) द्युलोक में (सूर्यं) सूर्य को (आरोहयः) प्रकट करते हैं॥

अधयद्राजाना गविष्टौ सरत्सरण्युः कारवेजरण्युः विप्रःप्रेष्ठः सह्यषां बभूव पराच वक्षदुत पर्षदेनान् ॥ ऋ १०। ६१। २३॥

हे (राजाना) राजमानौ मित्रावरुणौ (अध) अधुना सत्रसमाप्तौ (यत्) यस्मात् (गविष्टौ) गवामेषणायांसत्यां (सरण्युः) सरणशीलो यः (सरत्) गच्छति। किं कुर्वन् (कारवे) कर्म कुर्वते अंगिरसां गणाय (जरण्युः) स्तुतिमिच्छन् तस्मात् (सःविप्रो) नाभानेदिष्टः (एषां) अंगिरसां (प्रेष्ठः) प्रियतमो (बभूव) भवतु। (हि) इति पूरणः तेषां कर्त्तव्यं (पराच वक्षत) परावहतु (उत) अपिच (एनान्) अंगिरसः (पर्षत्) पारयति इत्यात्मन एवमाशास्ते॥

भावार्थ—हे (राजाना) प्रकाशयुक्त मित्र और वरुण (अध) अब सत्रसमाप्ति में (यत्) जिस से (गविष्टौ) किरणों में स्थित होने पर (सरण्युः) गमनशील (सरत्)

धूम्र जाता है। और स्तोता (कारवे) अंगिरस गणों के लिये कर्म करते हुए (जरयुः) स्तुति की इच्छा करता हुआ (हि) जिस से (सः विप्रो) वह व्याप्त यज्ञ (एषां) इन अंगिरस गणों को (प्रेष्ठः) अत्यन्त प्रिय (बभूव) हो। और स्तोता के कर्त्तव्य को उत्कृष्टता से प्राप्त करे (उत) और (एनान्) इन को अंगिरस गण (पर्षत्) पार करें॥

उक्त दोनों मंत्रों में 'विप्र' शब्द मेधावी का नाम आया है परन्तु ब्राह्मणजाति का नहीं। फिर तृतीय मंत्र में (विप्रः प्रेष्ठः) भी विप्र शब्द व्याप्ति अर्थ में आया है॥

और चतुर्थ मंत्र में भी देखिये:—

ब्रह्मादेवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणां। श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येतिरेभन् ऋ० ९।९६।६॥

इस में भी ब्राह्मण जाति का कोई वर्णन नहीं (सोम एवं रूपो भवति) सोम (देवानां) द्योतनकर्मा इन्द्रियों का (ब्रह्मा भवति) ब्रह्मा है (कवीनां) कवीयमान् इन्द्रियों की (पदवीः) गति का जानने वाला है (विप्राणां) व्यापनकर्म वाली इन्द्रियों का (ऋषिः) ऋषि है (मृगाणां) मार्गकर्मा इन्द्रियों का (महिषः) महान् है (गृध्राणां) ज्ञानकर्मा इन्द्रियों का (श्येनः) आत्मा है (वनानां) सेवनकर्मा इन्द्रियों का (स्वधितिः) स्वयं धारणकर्त्ता है (सोमः) सोम शब्द करता हुआ (पवित्रम्) पवित्रता को अतिगमन करता है॥

उक्त चारों मंत्रों में (विप्र शब्द) का अर्थ मेधावी, व्यापनकर्मा आदि अर्थों में आया है। यदि आप की समझ के अनुसार ब्राह्मण अर्थ भी (विप्र) शब्द का

ग्रहण किया जावे तो दुर्गाचार्य जी के निर्वचनानुसार (विशेषेण पूरयति विद्यार्थिनामपेक्षा इति विप्रः) जो विद्यार्थियों को पढ़ावे वही विप्र है तो अपठित तो शूद्र ही कहने चाहियें। किन्तु ऐसा तो कोई भी श्रुतिप्रमाण नहीं है कि जिससे मूर्ख को भी विप्र वा ब्राह्मण कहना चाहिये॥

पुनः आपने जो लिखा कि मनुष्यजाति का मार्गप्रदर्शक ब्राह्मण के सिवाय अन्य कोई नहीं होसक्ता है निस्सन्देह वेदत्रयी का ज्ञाता जितेन्द्रिय सदाचारी जो हो वही ब्राह्मण है। जो ब्राह्मण है वही मार्गप्रदर्शक है; परन्तु वेदविहीन अजितेन्द्रिय कभी ब्राह्मण वा मार्गप्रदर्शक नहीं होसक्ता है॥

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरापरिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये॥ मनुः

कर्महीन अब्रह्मचारी वेदविहीन जाति मात्रके घमण्डसे जीविका करने वाले मनुष्यों में धर्मसंशयनिर्णय के लिये सभासदत्व ही नहीं होता है, किन्तु ऋग्यजुसामवेदज्ञ तीन ही सभासद् धर्मसंशय के निर्णय के लिये श्रेष्ठ होते है॥

वै० ध० व्य० पृ० १५–

ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः। अस्मे ते सन्तु सख्या शिवानि यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० ७। २२। ९॥

इस मन्त्र में वेद के प्रकट करने वाले ऋषि दो प्रकार के कहे गए हैं पूर्व कल्प के और इस कल्प के और वे दोनों ब्राह्मण थे ॥

उत्तर—पण्डित जी ! उक्त मन्त्र में (विप्र) का अर्थ मेधावी है—देखिये 'सायण भाष्य':—

ये च पूर्वे ऋषयो ये च नूत्नाः नूतनाः विप्राः मेधाविनः ऋषयो ब्रह्माणि स्तोत्राणि जनयन्त तेष्विव वास्मे आत्मास्वपि हे इन्द्र ते तव सख्या सख्यानि शिवानि भद्राणि सन्तु ॥

भाषा—जो पूर्व ऋषि और जो नवीन मेधावी ऋषियों ने स्तोत्रों को प्रकट किये उन पर जैसे तैसे हमारे आत्माओं पर भी हे इन्द्र ! आपका कल्याणकारक सख्यभाव हो और आप सदैव हमारी स्वस्तियों से रक्षा करें ॥

उक्त मन्त्र में कल्प का कोई ज़िकर नहीं, किन्तु प्राचीन और नवीन ऋषि मेधावियों का वर्णन है ॥

वै० व० व्य० पृ० १५ में :—

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः १० । १४ । १५

अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शर्म यच्छत ॥
१० । ३७ । ११ ॥

इन मन्त्रों में पूर्व जन्म और यह जन्म प्रतिपादित है । इन्ही मन्त्रों के आधार पर ऋषिदयानन्द ने पुनर्जन्म तथा ऋषि का अनादिकाल से होना स्थिर किया है ॥

उत्तर—पण्डित जी मन्त्र क्या कहते हैं और आप क्या लिखते हैं—जरा देखिये तो:—

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन । इदं

नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथि कृद्भ्यः ॥
ऋ० १० । १४ । १५ ॥

हे ऋत्विजो (यमाय) राज्ञे (मधुमत्तमं) अतिशयेन मधुरं (हव्यम्) पुरोडाशादिकं हविः (जुहोतन) जुहुत (पूर्वजेभ्यः) सृष्ट्यादौ उत्पन्नेभ्यः अस्मत्तः पूर्वभाविभ्यः (पथिकृद्भ्यः) शोभनमार्गकारिभ्यः ऋषिभ्यः च इदं प्रत्यक्षं यथा भवति तथा नमोऽस्तु ॥

भाषार्थ—हे ऋत्विक् लोगों! यमराजा के लिये अत्यन्त मधुर हवि का हवन करो। सृष्टि के आदि में उत्पन्न हमारे से पूर्वभावी जिन के लिये यमराज अर्थात् ईश्वर ने वेद प्रदान किये, उन के लिये और जो शोभनमार्ग को हमारे लिये करने वाले ऋषि प्रत्यक्ष हैं उन के लिये नमस्ते हो।

इस मन्त्र में कल्पकल्पान्तर का वा पूर्वजन्म का कोई वर्णन नहीं, किन्तु (इद) शब्द से प्रत्यक्षतया नमस्कार है

अस्माकं देवा उभयायजन्मने शर्मयच्छत द्विपदे चतुष्पदे । अदत पिबदूर्जयमानमाशितम् तदस्मे शंयोररपोदधातन ॥ ऋ० १० । ३७ । ११ ॥

भाषार्थ—हे (देवा) सूर्येणाऽभ्यनुज्ञाता यूयं (अस्माकम्—द्विपदे) मनुष्याय (चतुष्पदे) पशवे (उभयाय) उभयविधाय (जन्मने) भूतजाताय (शर्म) सुखं (यच्छत) दत्त किंच अस्मत् पुत्रादिकं (अदत) भक्षणीयं भक्षयत (पिबत) पानीयं पिबच्च (ऊर्जयमानं) बलवन्तं इव आत्मानं आचरत् (आशितं) सुहितं च भवति तथा (अस्मे) अस्माकं (तत) (शं) रोगशान्तिनिमित्तकं सुखं (योः) विषययोगजनितसुखं च (अरपः) अपापं च (दधातन) प्रयच्छत ॥

भावार्थ-हे विद्वानो ! सूर्य के द्वारा जानते हुए आप लोग हमारे मनुष्य और पशु दोनों प्रकार के उत्पन्न प्राणियों के लिये सुख दीजिये, किन्तु हमारे पुत्रादिकों को खाते पीते हुए बलवान् करो और रोग-शांति-निमित्तक सुख तथा विषययोगजनित सुख हम को पापरहित दीजिये॥

उक्त मंत्र में मनुष्य और पशु द्विविध जन्म वालों के लिये सुख की प्रार्थना है, न कि पूर्वकल्प और पूर्वजन्म का वर्णन ॥

ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः ॥

यह जो पृष्ठ १६ में आप ने पुनरपि ब्राह्मण के अर्थ में विप्र शब्द लिखा है इस का उत्तर पृष्ठ ५३ में देखो ।

वै० व० पृष्ठ १६ में:-

ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में कक्षीवान् को दासीपुत्र लिखा है, और ऋग्वेद कक्षीवान् को ब्राह्मण बतलाता है देखिये -

अहं कक्षीवान् ऋषिरस्मि विप्रः ४ । २६ । १

उत्तर—धन्य है पंडित जी ! पृष्ठ १३ में तो उक्त मंत्र के पदों में से मनु नाम ईश्वर का लिखा, फिर कक्षीवान् कैसे ब्राह्मण का वाचक होगा। देखो इसका अर्थ पृष्ठ ५० में। आश्चर्य है कि आप अपने ही लेख में परस्परविरुद्ध लिखते हैं, इस प्रकार आप अपना खण्डन स्वयं ही कर रहे हैं ।।

वै० व० पृष्ठ १६-इसी प्रकार अन्यों के विषय में भी इतिहास ग़लत बतलाता है। इस बात को मैंने वेदमीमांसा में विस्तार से लिखा है ॥

उत्तर-जब कि ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में कक्षीवान् को दासीपुत्र बताया तभी तो आप उस को ग़लत बतला

कर वेदों में ही इतिहास मानने लगे हैं, अतः आपकी बुद्धि भ्रमात्मक है ॥

वै० ब० ऊप० पृ० १६—जो ब्राह्मण, ऋषि सृष्टि के आदि में जन्म लेकर वेदों का प्रकाश करते हैं उन का ज्ञान निश्चयात्मक होता है ॥

उत्तर—यह तो सभी विद्वान् मानते हैं कि आदिसृष्टि में मुक्ति में से ईश्वरीय वैदिकज्ञान लेकर अमैथुनी सृष्टिमें आते हैं, और उन को ब्राह्मण इसी हेतु से कहते हैं कि वे वेदज्ञ थे। तुम्हारी तरह तो अनिश्चयात्मक व भ्रमात्मक नहीं थे कि जो कभी वेदों में इतिहास मानने लगते हैं और कभी इंकार करते हैं कि मैं नहीं मानता हूं और अब अपवालोचन में भूत प्रेत सिद्ध करने लगे हो ॥

वै० ब० ऊप० पृ० १६ में:—

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥
३ । ५३ । १२ ॥

ब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः ॥ ७ । १८ । ४ ॥
यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ॥ १ । ८३ । ५ ॥
त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिराऋषिः ॥ १ । ३१ । १ ॥
अग्निर्ऋषिः पवमानः ॥ ९ । ६६ । २० ॥

इन मन्त्रों में विश्वामित्र वसिष्ठ आदि शब्द ईश्वर के वाचक हैं किसी मनुष्य के वाचक नहीं ॥

विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठो भरद्वाजो गोतमो वामदेवः । कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढस्तथात्रि-रवंतु नः कश्यपो वामगस्त्यः ॥

अथर्व कां० १८ अनु० ३ सू० ३ ॥

यह अथर्ववेद भी सिद्ध करता है ॥

उत्तर—पण्डित जी! आपने अपनी विद्या और बुद्धि को स्वार्थवश होकर अत्यन्त ही हास्यजनक बना दिया है और इसी स्वार्थपरता के कारण आप अनेक रूप बदल रहे हैं। कभी वेदप्रकाश में विज्ञापन देते हैं कि मेरी पुस्तक में त्रुटि हैं, मैं इसी जन्म में वर्णपरिवर्त्तन मानता हूं फिर ज़बानी कुछ और ही कहते हो। वेंकटेश्वर में ब्राह्मणपार्टी के बनते हो। भारतमित्र में कुछ निराले ही गीत गाते हो, तुमने अपनी पोज़ीशन को मिट्टी में मिला दिया और अन्य-ब्राह्मणों की तरफ़ भी उङ्गली उठवाई। शोक है! अब आपने ५ मन्त्रों के टुकड़े देकर जो यह लिखा है कि उक्त मन्त्रों में विश्वामित्र वशिष्ठ आदि ईश्वर के नाम हैं सो बिना विचार किये ही अन्धाधुन्ध लिख मारा है। तथा आप की वर्णव्यवस्था से भी ये मन्त्र कुछ संबन्ध नहीं रखते हैं। अतः आपका लेख बालप्रलापवत् निःसार है। उक्त मन्त्रों में से एक मन्त्र में विश्वामित्र तो नाम ईश्वर का अवश्य है, परन्तु द्वितीय और तृतीय में वशिष्ठ धन के अर्थ में और अथर्वा अहिंसक विद्वान् के लिये और ४थे में अंगिरा भी ईश्वर के अर्थ में है तथा ५वें मन्त्र में 'ऋषि' अग्नि का विशेषण है, जोकि ईश्वर अग्नि दोनों के लिये है। देखो महर्षि-कृत भाष्यः—

धेनुं नत्वा सुयवसे दुदुक्षन्नुपब्रह्माणि ससृजे वसिष्ठः। त्वामिन्ये गोपतिं विश्व आहान इन्द्रः सुमतिं गच्छन्त्वच्छ ॥ ऋ० ७। १८। ४॥

राजा सर्व सम्मति से राज्य का शासन करे ॥

(इन्द्रः) हे राजन् ! (वसिष्ठः) अतीव धन (सुयवसे) सुन्दर भक्षण करने योग्य घास के निमित्त (धेनुम्) गाय को (न) जैसे वैसे (त्वा) तुम्हें (दुदुक्षन्) कामों से पूर्ण करता हुआ (ब्रह्माणि) बहुत अन्न वा धनों को (उप असृजे) सिद्ध करता हूं । (मे) मेरी (गोपतिं) इन्द्रियों के पालक (त्वा) आपको (विश्वः) सब जन जो (आह) कहैं (इत) उसी (नः) हमारी (सुमतिम्) सुसम्मति को (अच्छ आगन्तु) अच्छे प्रकार प्राप्त हूजिये । इस मंत्र में वसिष्ठ धन के अर्थ में आया है न कि ईश्वरार्थ में ॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि । आगा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥

ऋ॰ मं॰ १ । ८३ । ५

जैसे (प्रथमः) प्रसिद्ध विद्वान् (अथर्वा) अहिंसक (पथः) सन्मार्ग को (तते) विस्तृत करता है । जैसे (वेनः) बुद्धिमान् (व्रतपाः) सत्य का पालन करने वाला सब प्रकार (आजनि) प्रसिद्ध होता है । जैसे (ततः) विस्तृत (सूर्य्यः) सूर्य्यलोक (गाः) पृथिवी को (आजत्) धारण करके घुमाता है । जैसे (काव्यः) कवियोंमें शिक्षाको प्राप्त(उशना)विद्या की कामना करने वाला विद्वान्‌विद्याओं को प्राप्तहोता है वैसे हमलोग (यज्ञैः) विद्याके पढ़ने पढ़ाने सत्संगादि क्रियाओं से (यमस्य) सब जगत् के नियन्ता परमेश्वर के (सचा) साथ (जातम्) प्राप्त हुए (अमृतम्) मोक्ष को (आ यजामहे) प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

इस मंत्र में अथर्वा अहिंसक विद्वान् का विशेषण है न कि ईश्वर का नाम ॥

वै० व० व्य० पृ० १७ में:-

१-अथर्वा, अंगिरा इन नामोंके दो ऋषि हुए जिन्होंने दश २ कांड प्रकाश किये । इस का विशेष वर्णन मैंने वेद-मीमांसा में किया है ॥

२-आज कल अनुलोम विवाह बृहद्देवता नामक ग्रन्थ के आधार पर चल रहे, परन्तु वेद में यह बात सर्वथा विरुद्ध है। वेद में (सवर्णामदधुर्विवस्वते १०। १७। २) सवर्णा विवाह का उपदेश किया है ॥

उत्तर-जैसा असम्बद्ध प्रलाप "अवैदिकवर्णव्यवस्था" में किया है इससे भी अधिक आपकी रचित 'वेदमीमांसा' में भी होगा, इस में कोई प्रमाण नहीं। दिया कि अथर्ववेद दो ऋषियों पर प्रकट हुआ ॥

यह ठीक है कि सवर्णा के साथ ही सर्व वर्णों को विवाह करना चाहिये, परन्तु कोई स्त्री पुरुष क्या जन्म से सवर्ण हो सक्ते हैं कदापि नहीं। जैसा कि (सभी वर्णों०) पृ०७ में ईश्वर ने गुण कर्म से सवर्णत्व का उपदेश किया है वैसा ही मानना चाहिये न कि आप की कपोलकल्पना ॥

वैदिक व० व्य० पृ० १७ में:-

उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ॥
न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥

इन पद्यों द्वारा मनु ने भी द्विजों में सवर्णाविवाह का विधान किया है और ब्राह्मण क्षत्रिय के लिये आपत

काल में भी शूद्रा के साथ विवाहसम्बन्ध करना नहीं लिखा है। इसके विरुद्ध जो लिखा है वह प्रक्षिप्त है॥

उत्तर—निस्सन्देह यह वार्त्ता सभी विचारवानों को मानने योग्य है कि सवर्णा के साथ ही विवाह करना सुखदायी होसकता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि मनु जी सवर्ण किस को कहते हैं इस अभिप्राय को आप छिपा कर जन्म पर सवर्णत्व को लगाते हैं यह आप का पक्षपात है। देखिये (उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च) तथा (नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्) अर्थात् तुल्य गुण, कर्म, स्वभाव उत्तम वर के लिये कन्या देनी चाहिये गुणहीन मूर्ख को नहीं। पुनः वेदाज्ञा है कि (ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्) अर्थात् ब्रह्मचारिणी कन्या ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त करके ही ब्रह्मचारी युवा पति को वरे। इस में आप के जन्माभिमान का तो कहीं भी ज़िकर नहीं, बल्कि जन्माभिमान का तो मनु जी खंडन करते हैं। इसके अतिरिक्त आप जो तानाजनी करते हैं कि अनुलोम विवाह चलपड़े हैं सो किन के लिये कहते हैं? जब कि वेद का परित्याग करके अनेक आचरणहीन, मांसभक्षी, कबीरपन्थी, ब्राह्मण नामधारी हैं, तो फिर इन में वर्णव्यवस्था का मानना ऐसा ही है जैसा कि आकाश का पुष्प और वंध्या का पुत्र। शोक है कि वेदोक्त सर्वहितकारी पक्ष को परित्याग करके आप वैश्य और शूद्रों को अनधिकारी लिखते हो और उन को अवनति के कूएं में ढकेलने के गीत गाने लगे हो। यह कर्त्तव्य आप का सर्वथा वेदविरुद्ध है॥

वै० व० व्य० पृ० १७ व १८ में:—

१-पुराणों में जहां कहीं क्षत्रियकन्याओं का ब्राह्मणों के साथ में अथवा ब्राह्मणकन्याओं का क्षत्रियों के साथ में सम्बन्ध मिलता है वहां औरस कन्याओं का नहीं, किन्तु कृतक पुत्रियों का प्रसंग है ॥

२-अनाथा कन्याओं को प्राचीनसमय के राजा अपनी कन्या मानकर पितृवत् विवाह करते थे। लोक में वे उन्हीं की कन्या मानी जाती थीं ॥

३ उदाहरण-जैसा महर्षि कण्व ने जङ्गल में पाई हुई शकुन्तला का राजा दुष्यन्त के साथ गन्धर्वविवाह किया॥

४-यह पुत्री मेनका और विश्वामित्र के जारकर्म से उत्पन्न हुई थी ॥

उत्तर-जब ऐसी २ गप्प बातों को भी सत्य मान कर आप अपने जन्माभिमान को सिद्ध करने का साहस करते हैं तो आपके अन्दर वैदिकविज्ञान के लिये जगह कहां !

१-आपके पास कोई भी ऐसा निर्भ्रम और पुष्ट प्रमाण नहीं, जिससे यह सिद्ध हो कि वे सारी कृतक पुत्रीं ही थीं औरस नहीं। देवयानी शुक्र की औरस पुत्री थी,जो राजा यदु को विवाही गई थी। २-अर्जुन ने द्रौपदी को ब्राह्मण बन कर विवाही थी और सब राजा सहन कर गए। यदि यह रीति प्रचलित न होती तो ब्राह्मणरूप में ब्राह्मण के गले में द्रौपदी कभी जयमाल नहीं डाल सकती थी। पुनः अंगदेश के राजा रोमपाद की शान्ता नाम्नी औरस कन्या ऋषिश्रृंग को विवाही गई थी। आप के पास क्या प्रमाण है कि वह कृतकपुत्री थी ? ३-जंगल में पाई हुई और जारकर्म से उत्पन्न हुई कन्या शकुन्तला भी जब कि इसी जन्म में उत्तम गुण कर्म स्वभावों के कारण और

ऋषि की शिक्षा से सुशिक्षिता होकर दुष्यन्त जैसे महाराजा की महारानी होगई और भरत जैसे चक्रवर्ती और सिंह से क्रीड़ा करने वाले बालक को उत्पन्न करने वाली हुई तो अब आपको लज्जित होना चाहिये इस जन्माभिमान पर। ४-भला जब कि वह जारजा थी तो क्षत्रियवर्ण वाले राजा दुष्यन्त ने क्यों विवाही और फिर उत्तम और महावीर चक्रवर्ती राज्य का भोक्ता उस से क्यों उत्पन्न हुआ? अतः आप को सवर्णत्व का उलटा अर्थ समझने वाली बुद्धि यहां पर तो स्वयं ही भ्रमा गई। पुनः सत्यवती के जारज पुत्र व्यास जी क्यों ब्राह्मण हो गए जोकि अब तक सर्वमान्य हैं? फिर सत्यवती कैवर्त्तकी से राजा शान्तनु ने क्यों विवाह किया और उसके पुत्र चित्रांगद और विचित्रवीर्य क्यों क्षत्रिय गिने गए?

वै० व० व्य० पृष्ठ १८। १९ में:—

जो विद्वान् वेद में एकसी प्रार्थना देख कर मनुष्यमात्र को एक मानते हैं वे बड़ा अन्याय करते हैं॥

वेद में जहां कहीं समान प्रार्थना मिलती है वहां ईश्वर को जगत्पिता मान कर मिलती है॥

वर्ण अथवा जातिभेद से जहां वेद में प्रार्थना लिखी गई है वह प्रकरण दूसरा है देखिये॥

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥

इस मंत्र में जाति-भेद-पूर्वक प्रार्थना की गई है। ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त हों। क्षत्रिय शूरवीरता से युक्त

होकर महारथी हों। यहां दो के लिये एक सी प्रार्थना नहीं है॥

उत्तर-१ जब कि ईश्वर जगत्पिता है तो मनुष्यजाति मात्र एकसी प्रार्थना करने पर क्या कोई मनुष्य से पशु जाति हो जाते हैं। विद्वान् लोग मनुष्यमात्र को एक जाति मानते हैं वह तो सार्वभौम नियम से सिद्ध है जो कि (आकृतिग्रहणा जातिः) यद्वा (समानप्रसवात्मिका जातिः) इत्यादि प्रमाणों से भी सिद्ध हैं। वे तो आपकी वेदशास्त्रविरुद्ध बुद्धि में अन्यायी हैं और आप न्यायी। क्या यह यह आपकी विद्वत्ता का द्योतक है?

२-वेद में तो वर्ण वा जाति को एकार्थक नहीं माना है आप व्यर्थ ही लोगों को धोखे में डालना चाहते हैं। आप ने जितने मंत्र भी जाति शब्द को वर्ण का पर्य्यायी होने में प्रमाण दिये थे उस आपके अनर्थ का खण्डन हम पूर्व ही लिख चुके हैं तथा पूर्वोक्त मंत्र में भी जाति का कहीं भी वर्णन नहीं है, किन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय वर्णों का है। सो इसका तात्पर्य यह है कि वेद पढ़कर ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी हों और क्षत्रिय शूरवीर महारथी बाणविद्या में चतुर अधर्मियों को विजय करने वाले हों। दुधारी गाय और पराक्रमी बैल व स्त्रीजाति व्यवहारकुशल पतिव्रता हों, शीघ्रगामी घोड़े और योद्धा जयशील और सभापति लोग इस यज्ञकर्त्ता के वीर हों। समय २ पर वर्षा हो, पुष्प मूल फल अन्नादि परिपक्व उत्तम गुणयुक्त हों तथा सर्वदेशवासियों का योगक्षेम उत्तम हो॥

क्या यह उक्त प्रार्थना किसी एक मनुष्य के सुख के लिये है ? किन्तु मनुष्यमात्र की उन्नति के वास्ते है, परन्तु आप के शिर पर तो पक्षपात का भूत सवार हो रहा है, वही आप से अनर्थ करारहा है। यदि आप ब्राह्मण और बाबू पार्टी के पचड़े में न फंसे होते तो इस प्रकार के असम्बद्ध लेख अपनी पुस्तक में कभी न लिखते। आप की पुस्तक से तो मानो आप का स्वयं ही खण्डन हो रहा है॥

काशी में आप अथर्वालोचन सुनाकर भूत, प्रेत सिद्ध करही आये। एक दिन वह था जब कि आपने प्रतिनिधि सभा व काशीसमाज के उत्सव पर आर्य्यों की तरफ से शास्त्रार्थ का चैलेंज दिया था। आज वह दिन है कि उस घोषणा को आपने अपनी अज्ञानता क़रार दी और आर्यों की भरपेट निन्दा की। धन्य है आपकी बुद्धि को॥

यह "वैदिकवर्णव्यवस्था" तो नहीं परन्तु असंबद्ध प्रलाप पुराण है। क्योंकि जहां कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि किसी मंत्र में नाम पाए झट लिख मारा कि यह देखो इस में ब्राह्मणजाति और क्षत्रियजाति के लिये प्रार्थना है॥

वै० व० व्य० पृष्ठ १९ में :-

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि

८। ९५। ३॥

इस मंत्र में ईश्वर को नित्य जगत् का पिता और नित्य प्रजा का राजा माना है। इसलिये ब्राह्मणादि चार वर्ण निषाद सूत आदि वर्णसंकर इसके राज्य में अनादि-

काल से होने चाहिये। इसी कारण से वेद में वर्णसंकरों का नाम और काम एक साथ आया है।

देखिये—नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषम्। य० ३०। ६॥

इस मंत्र में सूत, शैलूष इन दो वर्णसंकरों का नाचना और गाना काम बताया है। मनु इनको अन्त्यज मानता है। निषाद चांडाल को कहते हैं (नमो निषादेभ्यः) निषाद के लिये अन्न देवे। रामचन्द्र जी ने गुहनामक निषाद का अन्न आपत्तिकाल में भी ग्रहण नहीं किया॥

(शबरी वनचांडालः) शबरी नाम वनचांडाली के फल राम जी ने आपत्तिकाल में ग्रहण किये थे॥

उत्तर—आप प्रत्येक मन्त्र का जितने भी आपने प्रमाण दिये हैं किसी का भी सत्यार्थ नहीं देते हैं जो दिल में आया वही लिख दिया। इससे पद २ पर आपके पक्षपात का प्रकाश हो रहा है। पूर्वोक्त मन्त्र में ईश्वर का किंचित भी वर्णन नहीं, किन्तु राजा का है। देखियेः—

पिबा सोमं मदाय कमिन्द्र श्येना भृतं सुतम्।
त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि॥

ऋ० मं० ८ अ० १० सू० ८४ मं० ३॥

हे (इन्द्र) राजन् (त्वं) आप (श्येन) तेजस्विनी गायत्री से (आभृतं) ग्रहीत (सुतं) सोम को (मदाय) हर्ष के लिये (कं) सुख से (पिब) पीजिये (हि) इस हेतु से कि (त्वं) आप (शश्वतीनां) बहुतसी (विशाम्) प्रजा के (पतिः) पालक (असि) हैं तथा (राजा) स्वतेज से प्रकाशमान हैं इसलिये आप (सोमं) सोमरस को पीजिये॥

फिर बालकवत् आप लिखते हैं कि वर्ण और वर्णसंकर ईश्वरके राज्य में अनादिकाल से होने चाहियें ॥

भला कहीं ब्राह्मणादि प्रजा भी स्वरूप से अनादि हो सकती है। सूत शब्द के भी अनेक अर्थ हैं, पुराणों में सूत का उच्चासन है, जोकि नैमिषारण्यादि में ऋषियों को कथा सुनाते थे। फिर अन्त्यज ही का वाचक कैसे? नृत्य और गान ये दोनों विद्या हैं (सूत) शब्द गत्यर्थक (षु) धातु से निष्पन्न है, महावीर अर्जुन विराट-पुत्री को गाना और नाचना सिखाते थे। क्या उन को अन्त्यज कहदोगे? गतवर्ष एक विद्वान् ने बताशों पर नृत्य किया था, राजधानी बीकानेर और अनेक नागरिक विद्वन्मण्डली को उसने नृत्यविद्या का गौरव दिखलाया था तथा ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्यों में मङ्गलोत्सव पर स्त्रियां स्वयमेव अपनी मंडली में नृत्य करती हैं, गीत गाती हैं अतः वेद में सूत और शैलूष शब्द नीचार्थ में नहीं हैं। किन्तु जो अनेक प्रकार की गतियों से शरीर को पुष्प के समान करके नृत्य करा सके वही सूत तथा गाने में जो स्वाभाविक उत्तमशील जिस का हो वही शैलूष होगा। यदि निषाद नीचको कहते हैं तो वेद में (पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्) चारोंवर्ण और पांचवां निषाद मेरी उपासना करें। ऐसा क्यों कहते? अतः यह आपका द्वेषभाव से युक्त लिखना है। (पण्डिताः समदर्शिनः)पण्डित को समदर्शी होना चाहिये॥

वै० व० व्य० पृ० २०, २१ में:—

१ पंचजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥ ऋ०१०,५३,४ ॥
पंचजना मम होत्रं जुषन्ताम् । ऋ०१०,५३,५ ॥
जना यदग्निमयजन्त पंच । ऋ० १०, ४५, ६ ॥

इत्यादि मन्त्रों में पञ्चजन शब्द से मनुष्यजाति का ग्रहण है।

२—निघण्टु में भी पंचजन मनुष्यजाति का नाम है।

३—निरुक्त में भी (गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसी-त्येके) ऐसा लिखा है।

४ पांचजन्यं वा एतदुक्थम् । देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्पाणां च पितॄणां च एतेषां पंचजनानामुक्थम् ॥ ऐतेरेय ब्रा० ३। ३१

इस उक्त वचन में भी गन्धर्वादि को पंचजन कहा है।

५ यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः ॥ ऋ० १, १०८, ८

इस मन्त्र में (यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पुरु) इन को पंचजन कहा है।

सायणाचार्य और ऋषि दयानन्द भी इस मन्त्र के भाष्य में ऐसा ही मानते हैं। एक औपमन्यव इन सब के विरुद्ध चार वर्ण और पांचवां निषाद को मानता है॥

६—इसी के आधार पर कोई २ पण्डित निषाद को भी यज्ञाधिकारी बतलाते हैं। परन्तु जब मीमांसा में शूद्र को भी यज्ञाधिकारी नहीं माना तो अन्त्यज निषाद को यज्ञा-धिकार देना मेरी समझ में नहीं आता है। औपमन्यव का मत-वेद, निरुक्त, ऐतरेय, क्षीरस्वामी व दयानन्द के विरुद्ध है। यह थोड़ा सा लेख विद्वानों के लिये मैंने लिखा है, यह उपोद्घात समाप्त हुआ।

उत्तर-१ आप ने उक्त सर्वप्रमाणों से औपमन्यव के सम्मत निषाद को पंचजन से पृथक् करने की जो चेष्टा की

है सो यह आप की अज्ञानता है क्योंकि आप निरुक्त के प्रमाण से उस को पापी चांडाल जान कर ईश्वर की उपासना से पृथक् रखना चाहते हैं, परन्तु यह नहीं जानते हैं कि पापी मनुष्य भी ईश्वरभक्ति से ही सुधर सकता है॥

२-इस के अतिरिक्त आपने यह विचार भी नहीं किया कि निरुक्त में कई एक आचार्यों का तो मत है कि(रक्षांसि) अर्थात ५वां राक्षस तब अन्तर यह हुआ कि अन्य आचार्य तो पांचवां राक्षस मानते हैं और औपमन्यव पांचवां निषाद मानते हैं—देखो नीचे लिखी गणना॥

१—निरुक्त में कई आचार्य—१ गंधर्व, २ पितर, ३ देव, ४ असुर, ५ राक्षस।

२—औपमन्यव—१ ब्राह्मण, २ क्षत्रिय, ३ वैश्य, ४ शूद्र, ५ निषाद।

३-ऐतरेय—१देव, २मनुष्य, ३गंधर्वाप्सरस, ४सर्प, ५पितर

४-वेद में—१ यदु, २ तुर्वश, ३ द्रुह्यु, ४ अनु, ५ पुरु

अब विचार करो कि अन्य आचार्यों के मत में जो पांचवां (राक्षस) गिना है तो क्या वह पापी नहीं है ? तथा ऐतरेय में (सर्प) यानी हिंसक वेद में (तुर्वश) अर्थात हिंसक और द्रुह्यु अर्थात द्रोही, ये सब तो आपकी बुद्धि में यज्ञाधिकारी हो सकते हैं परन्तु निषाद क्यों नहीं? जबकि अन्यों के मत में भी पापी का ग्रहण है तो औपमन्यव ही की सम्मति आपके मन में क्यों चुभी, और जब कि वेद अधिकार देता है तो आप कौन ? देखिये—

३ तदद्यवाचः प्रथमं मंसीय येनासुरां अभिदेवा असाम। ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्॥ ऋ० १०।५३।४॥

(तदद्य) आज उस (वाचः) वचन के (तत्+प्रथमम्) उस परम वीर्य को (मंसीय) मानता हूं (देवाः) हे विद्वान् वीरपुरुषो (येन) जिस वीर्य से (असुरान्+अभि+भवाम) असुरों को हम परास्त करें (ऊर्जादः) हे अन्नखाने वाले मनुष्यो (उत+यज्ञियासः) हे यज्ञसम्पादको (पञ्चजनाः) हे पांचों प्रकार के मनुष्यो आप सब ही (मम होत्रम्) मेरे यज्ञ को (जुषध्वम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें। दुर्गाचार्य जी (निषादपञ्चमा वर्णाः) अतः मनुष्यमात्र यज्ञाधिकारी हैं॥

४ पञ्चजना मम होत्रं जुषन्तां गोजाता उत ये यज्ञियासः॥ ऋ० १० । ५३ । ५॥

(गोजाताः) पृथिवी पर उत्पन्न हुए (पञ्चजनाः) पांच प्रकार के मनुष्य हैं, वे सब ही (मम+होत्रं+जुषन्ताम्) मेरे उपदेश किये हुए यज्ञ को प्रीतिपूर्वक सेवन करें और (ये+यज्ञियासः) और जो याज्ञिकविद्या के तत्ववेत्ता हैं वे भी सदा यज्ञ करें॥

पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों में पांचों प्रकार के मनुष्यों के लिये परमात्मा ने (जुषध्वम्+जुषन्ताम्) इन लोट् लकारों से यज्ञ करने की आज्ञा दी है और वेद से बढ़कर अन्य किसी ग्रन्थ का प्रमाण हो नहीं सकता क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण हैं। अतः आपने जो लिखा कि द्विजों के अतिरिक्त अन्य किसी को यज्ञाधिकार नहीं, सो व्यर्थ ही है॥

५ विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आरोदसी अपृणाज्जायमानः। वीलुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजंत पञ्च॥ ऋ० १० । ४५ । ६॥

(यत्) जब (पंचजनाः) पांचों प्रकार के मनुष्य (अग्निम्+अयजन्त) अग्नि का यजन अर्थात् अग्नि में

आहुति डालते हैं तब वह अग्नि (वीलुम्+चित्+अद्रिम्) दृढ़ मेघ को भी (अभिनत्) छिन्नभिन्न कर देता है॥

इस मन्त्र में भी पांचों का यज्ञ में आहुति डालना है॥

पुनः ऐतरेय का जो प्रमाण आपने दिया उसका भी यही अभिप्राय है कि (पांचजन्यं वा एतदुक्थम्) अर्थात् पांचों यानी गन्धर्व देव मनुष्य सर्प पितर इन सभी का यह प्रशंसित यज्ञ है॥

६ यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद्द्रुह्युष्वनुषु पूरुषुस्थः। अतः परिवृषणा वा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥ ऋ० १। १०८। ८॥

हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् राजन् और देदीप्यमान मंत्रिन् (यत्) जिस हेतु आप दोनों (यदुषु) प्रयत्नकारी वा परोपकारी (स्थः) मनुष्यों में रहते हैं उसी प्रकार (तुर्वशेषु) हिंसक मनुष्यों को भी वश में करने वाले हो तथा (द्रुह्युषु) द्रोहकारी (अनुषु) प्राणप्रद (पूरुषु) विद्या शिक्षा से पूर्ण मनुष्यों में रहते हुए आप दोनों (वृषणौ) सुख की वर्षा करने वाले हे राजन् और मंत्रिन् आप (हि) निश्चय (आ+यातम्) हम लोगों के यज्ञ में भी आया करें और (सुतस्य) बनाए हुए (सोमस्य) सोम के रस को (पिबतम्) दोनों पीवें॥

इस मन्त्र में पांचों प्रकार के मनुष्य राजा और मन्त्री को यज्ञ में सोमरस पिलाने के लिये निमंत्रित करते हैं॥

यह आप के उपोद्घात की माया के मेघों का अच्छी तरह से घात करके जिज्ञासुओं के हृदय को सत्यार्थरूपी जल से सिंचन करके इस प्रकरण को समाप्त करते हैं॥

॥ इति उपोद्घातसमीक्षा समाप्ता॥